॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला
१



साहित्यालोक

डॉ॰ राजवंश सहाय 'हीरा'



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला

१



साहित्यालोक

डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा'

एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्० डी०

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग

सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज

औरंगाबाद (बिहार)



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वा रा ण सी ।

प्रकाशक :—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा०११२९

वाराणसी—२२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

द्वितीय संस्करण १९९४

मूल्य ४०-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

पो० बा०1069 (बनारस स्टेट बैंक भवनके पीछे)

चौक, वाराणसी—२२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक :—

चौखम्बा मुद्रणालय

वाराणसी—२२१००१

समर्पण

पूज्य बाबूजी बाबू बदरीनाथ लाल

(सूर्यपुरा–निवासी)

तथा अम्मा मदोदर देवी को

सादर समर्पित

आमुख

प्रस्तुत कृति 'साहित्यालोक' की रचना आई० ए०, बी० ए० तथा बी० ए० ऑनर्स के छात्रों की आवश्यकताओं और उनके पाठ्यक्रम के अनुसार की गयी है। इसमें यथासम्भव विषय को सरल तथा बोधगम्य बनाकर उसे उपयुक्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। पुस्तक कहाँ तक उपयोगी होगी, इसका निर्णय छात्र-समुदाय ही कर सकेगा। यदि छात्रों की आवश्यकताओं की इससे पूर्ति हुई तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

राजवंश सहाय 'हीरा'

विषय-सूची

प्रथमखण्ड (काव्य और काव्यरूप)

द्वितीयखण्ड (काव्यशास्त्र)

प्रथम खण्ड

काव्य और काव्य-रूप

काव्य का स्वरूप

काव्य या कविता का लक्षण अत्यन्त प्राचीन काल से प्रस्तुत किया जा रहा है, पर अभी तक उसकी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं बन सकी है। वस्तुतः कविता का लक्षण प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। भारत तथा पाश्चात्य जगत् के असंख्य मनीषियों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। यहाँ काव्य की कुछ परिभाषाओं पर विचार किया जायगा।

संस्कृत आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। मम्मट के अनुसार दोषरहित, गुणसहित तथा यथा-सम्भव अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

—काव्यप्रकाश, १।४

इस परिभाषा में बतलाया गया है कि उस शब्दार्थयुगल को काव्य कहते हैं जो निर्दोष हो, गुण से युक्त हो तथा वह कभी-कभी अलंकाररहित भी हो। यहाँ उन्होंने काव्य को दोषहीन होना, उसे गुणयुक्त रहना तथा यदाकदा अलंकार से युक्त होना आवश्यक माना है। इस परिभाषा के अनुसार काव्य में अलंकार अनिवार्य तत्त्व न होकर वैकल्पिक है अर्थात् कभी-कभी बिना अलंकार के भी काव्य हो सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य या रसयुक्त वाक्य को काव्य कहा। उनके अनुसार रस काव्य की आत्मा है, अतः उसके बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। रस से उनका अभिप्राय आनन्दानुभूति या सौन्दर्यबोध से है, जो हमें व्यक्तिगत सुख-दुःखों की स्थिति से ऊपर उठाकर अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराता है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

—साहित्य दर्पण, १।३

पण्डितराज जगन्नाथ के मत से रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। उनके अनुसार शब्द ही काव्य है, जो रमणीय या अलौकिक सौन्दर्य से पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन करता है। जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है वही काव्य है।

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

—रसगंगाधर, पृ० ९।

हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कविता शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। यहाँ उनका अभिप्राय यह है कि काव्य के पढ़ने से हमारे हृदय या व्यक्तित्व का इतना अधिक परिष्कार हो जाता है कि हम सम्पूर्ण मानवता को अपना मानने लगते हैं और ऐसी स्थिति में हमारा हृदय सङ्कीर्णताओं से ऊपर उठकर ऐसी भावभूमि पर पहुँच जाता है, जहां अपने और पराये का भाव नहीं रहता और सारी सृष्टि अपनी मालूम पड़ती है। कहने का अभिप्राय यह कि कविता उसे कहते हैं जो हमारे व्यक्तित्व का विस्तार कर सृष्टि के सभी प्राणियों को अपना बना दे।

पाश्चात्य आलोचकों में वर्ड्सवर्थ, शेली, लेहंट और मैथ्यू आर्नल्ड के काव्य-लक्षण अधिक प्रसिद्ध हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य प्लेटो ने कला या काव्य को प्रकृति की अनुकृति कहा है। उनके अनुसार कला प्रकृति का अनुकरण है!

"Art is an imitation of nature."

पर, प्रकृति से अरस्तू का अभिप्राय बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् दोनों से है और अनुकरण का अर्थ है पुनःसृजन या जीवन और जगत् का कल्पनात्मक पुनः-सृजन। अतः उनकी परिभाषा के अनुसार कला बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् का कल्पनात्मक पुनःसृजन है। कवि अपनी भावनाओं का रंग भरकर प्रकृति को पूर्ण बना देता है यही अरस्तू का अभिप्राय है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार कविता शान्तमय क्षणों में प्रबल भावावेश की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है।

"Poetry is the spontaneous overflow of Powerful feelings in its peace and tranquility."

इस परिभाषा में बतलाया गया है कि कविता मनोवेगों की भावाभि-व्यक्ति है।

प्रसिद्ध कवि शेली ने काव्य के कल्पनापक्ष पर बल देते हुए कहा कि कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है।

'Poetry is the expression of imagination."

उन्होंने अपनी अन्य परिभाषा में कहा है कि कविता श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम मनों के श्रेष्ठ एवं सर्वसुखमय क्षणों का लेखा है।

"Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds."

लेहंट के अनुसार सबसे सुन्दर शब्दों को सबसे सुन्दर ढंग से सजाने का नाम काव्य है। इस परिभाषा में शब्दों के सुन्दर सङ्घटन पर बल दिया गया है।

"Poetry is the best words in their best orders."

प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य के नैतिक पक्ष का उद्घाटन करते हुए उसे जीवन की व्याख्या बतलाया। उनके अनुसार कविता जीवन की व्याख्या है। जो कविता नैतिकता से दूर है, वह जीवन से भी दूर है और जो काव्य नैतिकता का विरोधी है, वह जीवन का भी विरोधी है।

"At bottom Poetry is the criticism of life." "Poetry against towards the moral ideas is against towards life. Poetry far from the moral ideas is far from life."

उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई भी परिभाषा ऐसी नहीं है जिसे काव्य का वास्तविक लक्षण कहा जा सके।

काव्य या कविता में जीवन की अनुभूति और भावों की मोहक अभिव्यक्ति, दोनों का समन्वय होना चाहिए। इसमें कल्पना, भावना और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अपेक्षित है। अतः भाषा के माध्यम से भावमूलक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को काव्य कहेंगे जिसमें जीवन का राग स्पंदित हो।

●

काव्य का कारण

काव्य-हेतु या काव्य के कारण के अन्तर्गत काव्य-रचना की प्रक्रिया पर विचार किया जाता है। इसमें बतलाया जाता है कि कवि किन उपादानों (सामग्रियों) से समन्वित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। भारतीय आचार्यों ने काव्य के तीन हेतु माने हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्य मम्मट के अनुसार शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) एवं अभ्यास—तीनों को सम्मिलित रूप से काव्य का कारण माना जा सकता है।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इतिहेतुस्तदुद्भवे॥

—काव्यप्रकाश, १।३

"शक्ति, लोकव्यवहार शास्त्र तथा काव्यादि के पर्यालोचन (अनुशीलन) से उत्पन्न निपुणता और काव्य को जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार काव्य-निर्माण का अभ्यास, ये तीनों मिलकर काव्य के उद्भव के कारण हैं।"

यहाँ बतलाया गया है कि शक्ति या प्रतिभा काव्य का मूल या बीजभूत तत्त्व है। इसके द्वारा कवि नई-नई कल्पना करने में प्रवृत्त होता है। यह वस्तु कवि में जन्मजात होती है अर्थात् जन्म से ही उसमें काव्य-रचना के लक्षण दिखलायी पड़ने लगते हैं। अतः इसके अभाव में कवि काव्य की रचना नहीं कर सकता। अँगरेजी में कहा गया है कि कवि जन्मजात होते हैं, वे बनाये नहीं जाते। "Poets are born not made." प्रतिभा से युक्त होकर ही कवि अपूर्व वस्तु का निर्माण करने में समर्थ हो सकता है। इसे शक्ति भी कहते हैं।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और उत्पाद्या। सहजा प्रतिभा उसे कहते हैं, जो कवि या लेखक में जन्मजात या जन्म से ही होती है। उत्पाद्या प्रतिभा यत्न, शिक्षा या अभ्यास से प्राप्त होती है। यह शक्ति उपार्जित या प्रयत्न-साध्य होती है। पुनः प्रतिभा के दो प्रकार किये गए हैं—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि में होती है और इससे युक्त होकर कवि काव्य-सृजन में प्रवृत्त होता है। भावयित्री प्रतिभा आलोचक में होती है, जिसके कारण वह काव्य का मूल्यांकन या उसके गुण-दोष की समीक्षा करता है। भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति काव्य के सौन्दर्य का उद्घाटन करता है।

निपुणता या व्युत्पत्ति — निपुणता अध्ययन के द्वारा प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत शास्त्रों का चिंतन और मनन, लोक-निरीक्षण तथा काव्य-परम्परा का अध्ययन आता है। शास्त्र-ज्ञान के द्वारा कवि प्रतिपाद्य विषय को व्यवस्थित एवं कथन को सौन्दर्यपूर्ण बनाता है। निरन्तर अध्ययन और अनुशीलन के द्वारा कवि की प्रतिभा और अधिक परिष्कृत होती है। कवि के लिए आवश्यक है कि वह लोक एवं शास्त्र का निरीक्षण करे।

अभ्यास—अपनी रचना को सुन्दर बनाने के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। काव्यज्ञ या काव्य-निर्माण के तत्त्वों को जानने वाले व्यक्तियों अर्थात् गुरु का साहचर्य प्राप्त कर उनके निर्देशन में निरन्तर अभ्यास करना कवि का परम कर्त्तव्य है। इससे रचना व्यवस्थित होकर निखर जाती है। इससे सिद्ध है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य-हेतु के सम्मिलित तत्त्व हैं।

●

काव्य का प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत काव्य के उद्देश्य या प्रयोजन पर विचार किया जाता है। आचार्य मम्मट ने काव्य के ६ प्रयोजनों का निर्देश किया है।

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपयुजे॥

—काव्यप्रकाश, १।२

इसका अर्थ हुआ "कि यश की प्राप्ति, संपत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्य-ग्रन्थ उपादेय हैं।"

यहाँ ६ काव्य-प्रयोजनों पर विचार किया गया है—यश की प्राप्ति, संपत्ति-लाभ, व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति, विपत्तियों का विनाश, शीघ्र ही आनन्द का अनुभव तथा प्रिया की भाँति मनभावन उपदेश या कान्तासम्मित उपदेश की प्राप्ति।

( ) **यश की प्राप्ति (यशसे)**—काव्य-रचना इसलिए की जाती है कि कवि उसके द्वारा यश प्राप्त करना चाहता है। साहित्यकार के दिवंगत हो जाने के बाद भी उसकी रचनाएँ जीवित रहती हैं। इसलिए कवि या लेखक को अमर माना गया है। उसका रक्त-मांस से युक्त शरीर नाशवान् है, पर यशःशरीर अमर रहता है। तुलसीदास, कालिदास, शेक्सपियर आदि कवि इसके उदाहरण हैं।

(२) **संपत्तिलाभ (अर्थकृते)**—काव्य की रचना कर कवि प्रचुर मात्रा में धन प्राप्त करता है। प्राचीन समय में कवि राजाओं के दरबार में रहकर अतुल धन-राशि प्राप्त करते थे और आधुनिक युग में पुस्तकों की बिक्री और पुरस्कार से कवियों को पुष्कल मात्रा में धन-लाभ होता है। राष्ट्रकवि दिनकर को उनकी प्रसिद्ध रचना उर्वशी पर एक लाख रुपए का ज्ञानपीठ-पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

(३) **व्यावहारिकज्ञान (व्यवहारविदे**—काव्य की रचना तथा अध्ययन के द्वारा कवि एवं पाठक या सहृदय को व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। काव्य में निहित उपदेशों एवं नीति-विषयक शिक्षाओं को पढ़कर पाठक अपने चरित्र को परिष्कृत करता है या सुधारता है। 'रामायण' को पढ़कर कितने ही व्यक्तियों ने अपने चरित्र को सुधारा है।

(४) अमंगलनाश (शिवेतरक्षतये)—काव्य के लेखन से अमंगल का भी नाश होता है ! कवि किसी देवता या इष्टदेव की वंदना कर अपना अथवा विश्व के कष्ट का निवारण करता है। महाकवि पद्माकर ने 'गंगालहरी' की रचना कर कुष्ठ रोग से मुक्ति पायी थी।

( ) शीघ्र ही आनन्दानुभव—काव्य के अध्ययन एवं श्रवण से तुरत ही आनन्दानुभूति होती है और हम वाह-वाह कहने लगते हैं। विद्वानों ने काव्यानन्द को ब्रह्मसुख के समान अलौकिक माना है।

(६) कान्तासम्मित उपदेश—काव्य के अध्ययन से शिक्षा भी प्राप्त होती है जो नीरस या शुष्क न होकर प्रिया की बातों की तरह मनभावन या मोहक होती है। काव्य में सुन्दर रमणी की भाँति आकृष्ट करने की अद्भुत क्षमता है।

काव्य के भेद

[मुक्तककाव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य]

इन्द्रियों की ग्राहकता के आधार पर काव्य के दो भेद किये गए हैं—दृश्य-काव्य और श्रव्यकाव्य। जिस काव्य का आनन्द चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष से प्राप्त किया जाय या जिसका आनन्द देखकर मिले उसे दृश्यकाव्य कहते हैं। इसके अन्तर्गत नाटक या रूपक एवं उसके भेद और सिनेमा का वर्णन किया जाता है। दृश्यकाव्य को रंगमंच के ऊपर पर्दे पर दिखाया जाता है और उसमें अभिनेता आकर कथा के दृश्यों को दर्शकों के समक्ष प्रदर्शित करते हैं।

श्रव्यकाव्य उसे कहते हैं जिसका आनन्द श्रवणेन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्राप्त किया जाय या जिसे सुनकर या पढ़कर समझा जाय। श्रव्यकाव्य का अर्थ है सुनने योग्य काव्य। इसके अन्तर्गत कविता, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध आदि आते हैं। श्रव्यकाव्य के भी दो प्रकार होते हैं— प्रबन्ध और मुक्तक और प्रबन्धकाव्य भी दो प्रकार का होता है—खण्डकाव्य और महाकाव्य। मुक्तक-काव्य भी कई प्रकार का हो‍ता है, जैसे—गीतिकाव्य, गीत, शोकगीत, चतुर्दशपदी आदि। प्रबन्धकाव्य में किसी व्यक्ति की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन होता है और मुक्तक फुटकल पद्यों को कहते हैं। मुक्तक-काव्य का प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होकर अपना चमत्कार स्वयं उत्पन्न करने में समर्थ होता है। महाकाव्य में जीवन का सम्पूर्ण चित्र विशाल पटभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है और खण्डकाव्य में जीवन का एक दृश्य या खंड वर्णित होता है। अब यहाँ प्रत्येक का विवेचन किया जायगा।

मुक्तक-काव्य

मुक्तक-काव्य ऐसी रचना को कहते हैं, जिसके पद्य या छन्द परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र हों और उनमें पूर्वापर या आगे-पीछे के सम्बन्ध का अभाव हो। इसमें रस का पूर्ण प्रवाह हो या मुक्तक-काव्य रस से आपूर्ण रहे। इसमें उक्ति-सौन्दर्य या अभिव्यक्तिसौन्दर्य का विधान किया जाता है अर्थात् कथन को अधिक आकर्षक बनाने के लिए कवि उसके कलापक्ष को अधिक समृद्ध करता है। मुक्तक में कवि का आत्मानुभव व्यक्त होता है अर्थात् जब कवि अपने विशेष क्षण की अनुभूति को अत्यन्त तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करता है तो उसमें आत्म-

निष्ठता का समावेश हो जाता है। ऐसी ही आत्माभिव्यंजक रचना को मुक्तक-काव्य कहते हैं। मुक्तक में भाव-वैभव एवं कलात्मक सम्पत्ति का सम्यक् योग रहता है। इसमें रस-परिपाक के अतिरिक्त कवि का ध्यान चमत्कार-प्रदर्शन की ओर भी जाता है। कवि रागात्मक आवेश से भरकर हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति करता है, अतः उसमें पाठकों के मनोवेगों को तरंगित करने की अधिक शक्ति होती है। मुक्तककार रचना-चातुरी का प्रदर्शन कर पाठकों के हृदय में रसाभिव्यक्ति के अवसर पर रस की धारा प्रवाहित कराने की अपेक्षा छोटे-छोटे छींटे ही उठाने में अपना कर्त्तव्य समझता है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि मुक्तक का विषय महाकाव्य की भाँति गरिमा-पूर्ण एवं वैशिष्ट्यपूर्ण हो। मुक्तककार किसी भी विषय को लेकर उसमें अपनी अनुभूतियों का रंग भर सकता है। लघुता मुक्तक की अपनी विशेषता होती है। इसमें अल्प शब्दों में अधिक भाव भरना होता है। कवि लघुतम वस्तु से गंभीर-से-गंभीर भाव उत्पन्न कर मुक्तक-काव्य की रचना करता है। मुक्तक-काव्य में एक या प्रधान केन्द्रीय भावना का होना आवश्यक है अर्थात् इसमें एक भावना का प्रवाह प्रारम्भ से अन्त तक होता है। इसमें भावों की प्रगति के साथ छन्द, शब्द और लय की प्रगति का निकट सम्बन्ध है। मुक्तककार केवल शब्द और अर्थ का ज्ञाता ही नहीं होता, अपितु उसे नाद-सौन्दर्य के महत्त्व को भी समझने में दक्षता प्राप्त होती है। वह शब्द-संगीत को लय के साथ नियोजित कर उसमें सौन्दर्य एवं माधुर्य का सर्जन करता है। मुक्तक-काव्य का अत्यन्त मर्मस्पर्शी होना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल के अनुसार यदि प्रबन्ध-काव्य एक सुरम्य वनस्थली है तो मुक्तककाव्य चुना हुआ गुलदस्ता। उदाहरण के लिए 'बिहारी सतसई' एवं महादेवी वर्मा कृत 'दीपशिखा' मुक्तक-काव्य हैं।

खंड-काव्य

खंड-काव्य में जीवन का खंड चित्र अंकित किया जाता है। इसमें महाकाव्य की भाँति विषय, शैली एवं पात्र के विचार से वही गरिमा नहीं होती और न इसमें जातीय जीवन का विस्तृत चित्र उपस्थित किया जाता है। सीमित या लघु आकार में रचित कथा-काव्य को ही खंडकाव्य कहा जा सकता है। इसका कथानक ऐतिहासिक, काल्पनिक या मिश्र कोई भी हो सकता है, पर महाकाव्य की भाँति कथानक की ऐतिहासिकता इसमें अनिवार्य नहीं है। इसमें जीवन के एक अंश का चित्रण होता है जो अपने में पूर्ण रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी महाकाव्य के एक अंश या एक सर्ग को खंडकाव्य नहीं कहा जा सकता। इसमें निहित खंड शब्द जीवन के आंशिक रूप का द्योतक है। खंडकाव्य में कवि

जीवन के सम्पूर्ण रूप से प्रभावित न होकर उसके आंशिक या खंड-रूप को ग्रहण करता है।

महाकाव्य के वस्तु-संघटन की भाँति नाट्य-संधियों का निर्वाह खंडकाव्य के लिए आवश्यक नहीं है और न इसमें अनेक प्रासङ्गिक कथाओं का नियोजन होना चाहिए। इसमें मुख्य घटना एक ही होती है और उसमें जटिलता का अभाव होता है। महाकाव्य की भाँति इसमें सर्गों का विभाजन आठ से अधिक नहीं होता। विषय के विस्तार और लाघव की दृष्टि से खंडकाव्य का विभाजन अनेक सर्गों में भी हो सकता है और इसका आकार एक सर्ग का भी हो सकता है। इसलिए इसमें सर्गों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती।

खंडकाव्य में छंद-विधान व्यावहारिक दृष्टि से होना चाहिए। महाकाव्य की अपेक्षा खंडकाव्य में भावात्मक एवं गीतात्मक तत्त्वों का अधिक समावेश होता है। इसमें एक छन्द का ही प्रयोग अधिक काम्य है। इसका रूप समाख्यानात्मक होना चाहिए, पर विषय की दृष्टि से यह भावाभिव्यंजक या प्रगीतात्मक भी हो सकता है। उदाहरण के लिए महाकवि कालिदास रचित 'मेघदूत' और मैथिलीशरण गुप्त कृत 'जयद्रथ वध' नामक पुस्तकें खंडकाव्य हैं।

महाकाव्य

महाकाव्य विशाल पटभूमि पर रचित एक बृहद् काव्य है, जिसमें जीवन का सर्वांगीण रूप चित्रित होता है। इसमें महान् आयोजन, महद्दुदेश्य, महदनुष्ठान, महान् शैली और महान् चरित्र का वर्णन होता है। महाकाव्य जातीय संस्कृति और राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कथानक शाश्वत और विश्वजनोन तत्त्वों से निर्मित होता है, जिसमें मानव-जीवन अपने सम्पूर्ण विस्तार के साथ अभिव्यक्त होता है। इसमें किसी महान् और महत्त्वशील क्रिया आबद्ध होती है और इसके नायक का चरित्र महान् तथा गरिमापूर्ण होता है। इसकी समस्त कविता कला के उच्चतम विकास की द्योतक होती है अर्थात् कला का उच्च-वैभव महाकाव्य में दिखाई पड़ता है। महाकाव्य की भाषा अपने प्रौढ़ रूप को प्रदर्शित करती है और उसका इतना महान् रूप होता है कि उस भाषा के विकास की सारी सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। महाकाव्य किसी महान् उद्देश्य को लेकर रचा जाता है। इसका कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक बिखरा हुआ होता है और इसमें ऐसी घटनाएँ समाविष्ट होती हैं जिनमें सीमित मात्रा में अन्विति होती है। इसमें नाटक की अपेक्षा कल्पना अधिक अनियंत्रित होती है। इसकी कथा तथा पात्रों में महानता का सन्निवेश होता है। इसमें जातीय जीवन की अभिव्यक्ति होती है और भावोत्कर्ष का उल्लेखनीय रूप प्रस्तुत होता है। घटनाओं

का बाहुल्य होने से नाटक की अपेक्षा इसका कथानक शिथिल होता है। इसका उद्देश्य हमारी उदात्त भावनाओं को जगाना है तथा इसका प्रयोजन है सौन्दर्य-भावना की तृप्ति, आनन्द की उपलब्धि एवं जीवन का सहज नैतिक अभ्युत्थान। आ० विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—महाकाव्य की कथा सर्गबद्ध होती है। इसका नायक कोई देवता या धीरोदात्त गुणोपेत कुलीन क्षत्रिप होता है। एक वंश में उत्पन्न अनेक राजे भी महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। इसमें शृंगार, वीर और शान्त—तीन रसों में से कोई एक प्रधान होता है और शेष रस गौण होते हैं—अर्थात् अप्रधान रूप से सभी रसों का समावेश महाकाव्य में होता है। इसमें नाटक को सभी संधियाँ समाविष्ट होती हैं तथा कथानक ऐतिहासिक एवं किसी सज्जन से सम्बद्ध होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुवर्गों में से कोई एक महाकाव्य का फल होता है। इसके प्रारम्भ में मंगलाचरण का विधान होना चाहिए जो आशीर्वादात्मक, वस्तु-निर्देशात्मक एवं मंगलवाची हो। इसमें कहीं-कहीं खलों की निन्दा होनी चाहिए एवं सज्जनों की प्रशंसा। इसमें न तो अधिक बड़े और न अधिक छोटे आठ से अधिक सर्ग (अध्याय) हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का व्यवहार किया जाय, किन्तु सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया जाय। कहीं-कहीं एक सर्ग में बहुत से छन्द भी देखे जाते हैं। महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग (आने वाले) की कथा की सूचना हानी चाहिए। इसमें वस्तु-व्यंजना के रूप में मानवेतर प्रकृति का सम्पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन होना चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, रजनी, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, षड्ऋतु, वन, पर्वत, सागर, नदी, संयोग वियोग, मुनि, स्वप्न, नगर, यक्ष, युद्ध, रणयात्रा, विवाह, मंत्रणा, जल, क्रीड़ा, पान, पुत्रोत्सव आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नामकरण कवि, वर्ण्यविषय या नायक-नायिका या किसी पात्र के आधार पर हो तथा सर्गों के नाम सर्ग में वर्णित विषय या कथा के आधार पर रखे जाएँ। निष्कर्ष यह कि महद्दुदेश्य से प्रेरित होकर ही महाकाव्य की रचना हो और यह कला के उच्च शिखर पर अधिष्ठित होने वाली कृति सिद्ध हो सके। उदाहरण-स्वरूप 'रामचरित मानस' तथा 'कामायनी' महाकाव्य हैं।

नाटक और उसके तत्त्व

भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक या रूपक के तीन तत्त्व हैं— वस्तु, नेता और रस। वस्तु से अभिप्राय कथावस्तु का है और नेता पात्र को कहते हैं। रस के अन्तर्गत भावों और नौ रसों का विवेचन होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार नाटक का प्रधान उद्देश्य रस की निष्पत्ति है अर्थात् रस-विषयक आनन्द की सिद्धि ही नाटक का प्रधान लक्ष्य है जबकि पाश्चात्य विद्वान् चरित्र-चित्रण को नाटक का परम तत्त्व मानते हैं। पाश्चात्य विचारकों ने नाटक के ६ तत्त्वों पर विचार किया है—कथानक, पात्र, विचार, संगीत, पदरचना और दृश्यविधान।

कथावस्तु कथावस्तु के दो भेद किये गए हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक की प्रधान या मुख्य कथा को आधिकारिक कथा कहते हैं और जो कथा प्रसंगवश बीच-बीच में आकर मूल कथा को गति देती है या उसे आगे बढ़ने में सहायता करती है, उसे प्रासंगिक कथा कहते हैं। अधिकार का अर्थ है नाटक का फल या मुख्य उद्देश्य और जिसे इस फल की प्राप्ति होती है उसे अधिकारी या प्रधान पात्र कहते हैं। उदाहरण के लिए 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का फल या अधिकार है सत्य की प्राप्ति, जो राजा हरिश्चन्द्र को प्राप्त होती है। इस दृष्टि से राजा हरिश्चन्द्र अधिकारी या प्रधान पात्र हुए। नाटक का मुख्य फल या अधिकार धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष इनमें एक से सम्बद्ध रहता है अर्थात् उसका उद्देश्य धर्म की प्राप्ति अथवा अर्थ, काम या मोक्ष की प्राप्ति है। नाटक का नेता या प्रधान पात्र उपर्युक्त पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) में से किसी एक की सिद्धि के लिए संघर्ष करता है। अधिकारो या नाटक के फल के भोक्ता से जो कथा सम्बद्ध होती है, उसे आधिकारिक कथा कहते हैं। आधिकारिक कथावस्तु की सहायिका कथा को प्रासंगिक कथा कहते हैं। अभिप्राय यह कि आधिकारिक कथा नाटक या रूपक की मुख्य या प्रधान कथा है और प्रासंगिक कथा गौण या सहायिका कथा। प्रासंगिक कथा का कार्य है मुख्य कथा की सहायता करना। उदाहरण के लिए रामायण में राम-रावण-युद्ध की कथा आधिकारिक कथा है और सुग्रीव, जटायु या विभीषण की कथा प्रासंगिक कथा। प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है—पताका और प्रकरी। जो कथा नाटक या रूपक में समाप्ति या अन्त तक चलती है उसे पताका कहते हैं और जो कथा नाटक में अल्पकाल

तक चले उसे प्रकरी कहते हैं। जैसे, रामायण में सुग्रीव या विभीषण की कथा पताका है और शबरी या जटायु की कथा प्रकरी। प्रकरी कथा अत्यन्त संक्षिप्त होती है और आरम्भ होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

फल की प्राप्ति के लिए कथानक को पाँच भागों में विभक्त किया जाता है, इसे अर्थप्रकृति कहते हैं। नाटक में प्रदर्शित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो उपाय किये जाते हैं, उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। इसके पाँच प्रकार हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

नाटक के मुख्य फल के हेतु को बीज कहते हैं। यह कथांश के मुख्य फल का वह हेतु है जो क्रमशः विकसित होता है। जब किसी अन्य घटना के घटित होने पर कथा में विच्छिन्नता (भग हो जाय) आ जाय तो इस विच्छेद को दूर करने तथा घटनाओं को जोड़ने का कार्य बिन्दु करता है। इसके द्वारा कार्य का प्रसरण (फैलाव) होता है और यह समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को मुख्य कथा के साथ जोड़ता है। कार्य नाटक के प्रधान साध्य या फल को कहते हैं और फल की प्राप्ति के पश्चात् नाटक समाप्त हो जाता है। पताका और प्रकरी की व्याख्या ऊपर हो चुकी है।

नाटक या रूपक की कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। आरम्भ उस स्थिति को कहते हैं जब नायक फल-लाभ के लिए उत्कण्ठित होता है या लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है। जब नायक लक्ष्य-सिद्धि के लिए सचेष्ट होकर गम्भीर उद्योग करे, तो उसे प्रयत्न कहते हैं। आगे की अवस्था में सफलता एवं असफलता का संघर्ष इस स्थिति में पहुँच जाता है, जब लक्ष्य-प्राप्ति की सम्भावना अधिक हो जाती है, अर्थात् उपायादि के द्वारा कार्य-सिद्धि की आशा होने लगती है। इसे ही प्राप्त्याशा कहते हैं। चतुर्थ अवस्था का नाम नियताप्ति है, जिसमें फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है अर्थात् विशिष्ट कठिनाई या बाधा के दूर हो जाने पर सफलता या इष्ट-सिद्धि निश्चित (नियत) हो जाती है। अन्तिम अवस्था का नाम फलागम है, जिसमें सम्पूर्ण फल की प्राप्ति या लक्ष्य की पूर्ण सिद्धि हो जाती है।

नाटक की कथा या इतिवृत्त सम्बन्धी अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है सन्धि। इसके द्वारा कार्यावस्था एवं अर्थप्रकृति का मेल होता है। वस्तु तथा व्यापार के अनुरूप ही इसकी संख्या पाँच है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण। नाटक में सन्धियों के कारण रोचकता और स्वाभाविकता आती है तथा कथानक ऐसे मोड़ (दिशान्तर) को प्राप्त करता है, जहाँ दर्शकों की दृष्टि आकृष्ट हो

जाती है। मुख सन्धि में बीज और आरम्भ का जोड़ होता है, जिसमें प्रतिपाद्य रस के साथ बीज का वपन होता है। प्रतिमुख सन्धि यत्न एवं बिन्दु को जोड़ती है। इसमें नाटक के प्रधान लक्ष्य को सिद्ध करने वाला कथानक कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो जाता है। गर्भ सन्धि में प्राप्त्याशा और पताका की सन्धि होती है। इसमें इष्टसिद्धि की प्राप्ति एवं अप्राप्ति की आशंका एवं प्रधान फल का साधक प्रासंगिक कथा का अंश विद्यमान रहता है। अवमर्श सन्धि में नियताप्ति एवं प्रकरी का मेल होता है। इस स्थिति में कथानक के सभी तत्त्वों का अन्वय होकर महत्कार्य के फल की सिद्धि हो जाती है।

नाटक की कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र। ऐतिहासिक या पौराणिक कथा को प्रख्यात या ख्यातवृत्त कहते हैं। इसका सम्बन्ध प्राचीन या ऐतिहासिक व्यक्ति से होता है। उत्पाद्य काल्पनिक कथा को कहते हैं, जिसमें नाटककार कल्पित पात्रों का वर्णन करता है। मिश्र कथानक में इतिहास एवं कल्पना दोनों का मेल होता है।

नाटक में कुछ ऐसे अंश होते हैं, जिनका अभिनय किया जाता है, या उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है और कुछ अंशों को मंच पर दिखाया नहीं जाता। इस दृष्टि से नाटकीय कथा के दो प्रकार होते हैं—दृश्य और सूच्य। कथावस्तु का वह अंश जो रसयुक्त, आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण होने के कारण सामाजिकों (दर्शकों) को आकृष्ट करे, उसे रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। ऐसे कथानक को दृश्य कहते हैं। सूच्यकथा उसे कहते हैं, जिसकी सूचना-मात्र दी जाय। इन कथाओं की सूचना नाटक को अनावश्यक विस्तार से बचाने के लिए दी जाती है तथा वे अंश, जो नीरस या अरोचक होते हैं या जिनका प्रदर्शन रंगमंच की दृष्टि से उचित नहीं होता, उनकी सूचना दे दी जाती है।

रंगमंच के अभिनय को दृष्टि में रखकर कथावस्तु के तीन विभाग किये गए हैं—सर्वश्राव्य (प्रकाश), अश्राव्य (स्वगत कथन) एवं नियतश्राव्य। कथा का वह अंश जिसे रंगमंच पर सभी सुन सकें, सर्वश्राव्य कहलाता है। यह कथा सभी पात्रों के सुनने योग्य होती है। अश्राव्य उसे कहते हैं, जिसे कोई पात्र सुन न सके। इसे स्वगत-कथन या आप ही आप कहते हैं। नियतश्राव्य उसे कहते हैं, जो चुने हुए पात्रों के सुनने योग्य हो। जब कोई पात्र आकाश की ओर मुँह करके उत्तर-प्रत्युत्तर करे, तो उसे आकाशभाषित कहते हैं। नाटक में कुछ ऐसे दृश्य होते हैं, जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर निषिद्ध होता है, उन्हें वर्जित-दृश्य कहते हैं। इसके अन्तर्गत युद्ध, मृत्यु, हत्या, दूर से पुकारना, भोजन, रति-क्रीड़ा, मदिरापान आदि हैं।

नेता या पात्र—नाटक का अन्य महनीय तत्त्व नेता है। नाटक के प्रधान पात्र को नायक या नेता कहते हैं। नायक के अनेक भेद हैं, पर यहाँ स्वभाव की दृष्टि से उनके चार भेदों का वर्णन किया जाता है। वे हैं;—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त।

धीरोदात्त नायक—सुशील, सर्वगुणसम्पन्न, कुलीन, वीर और उदार व्यक्ति धीरोदात्त नायक कहा जाता है। जैसे; रामचन्द्र या दुष्यन्त।

धीरोद्धत—धीरोद्धत उसे कहते हैं जो घमण्डी, मायावी, मात्सर्य से युक्त तथा आत्मश्लाघा-(आत्मप्रशंसा) रत हो। यह प्रतिनायक या खलनायक होता है। जैसे; रावण, दुर्योधन।

धीरललित—विलासी, विनोदशील और कलाप्रेमी नायक को धीरललित कहते हैं। जैसे; उदयन।

धीरप्रशान्त—यह जन्मना ब्राह्मण या वणिक् होता है। यह सीधा-सादा, सभ्य व्यक्ति हुआ करता है। जैसे; देवदत्त।

व्यवहार के अनुसार नायक के चार भेद होते हैं—दक्षिण, अनुकूल, शठ और धृष्ट। यह भेद केवल शृंगार रस में होता है। अनेक नायिकाओं के प्रति तुल्यानुराग रखने वाले नायक को दक्षिण कहते हैं। केवल एक ही नायिका में अनुरक्त नायक अनुकूल कहा जाता है। शठ नायक वह है जो ऊपर-ऊपर से एक ही स्त्री के प्रति अनुराग प्रदर्शित करता हुआ भी अनेक नायिकाओं से छिपकर प्रेम करता है। धृष्ट नायक निर्लज्ज होकर अनेक नायिकाओं से छिपकर प्रेम करता है। नायक की पत्नी को नायिका कहते हैं। वह तीन प्रकार की होती है—स्वकीया (पत्नी), परकीया (प्रेमिका) और गणिका (वेश्या)। नायिकाओं के ३८४ भेद हैं। नाटक में नायक के मित्र या सखा का भी वर्णन होता है जिसे विदूषक कहते हैं। यह अतिभोजी और ब्राह्मण हुआ करता है तथा अपने अंगों को विकृत कर नायक को हँसाता या उसका मनोरंजन करता है।

रस—नाटक या रूपक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस है। इसका विवेचन रस प्रकरण में देखें।

नाटक का स्वरूप—नाटक की कथावस्तु ख्यात या ऐतिहासिक होती है। इसका नायक धीरोदात्त होता है, जो राजर्षि तथा कुलीन होता है। नाटक में शृंगार और वीर रस प्रधान (अंगी) होते हैं और अन्य रस अंगरूप से प्रयुक्त होकर उनके परिपाक में सहायक होते हैं। नाटक में पाँच से दस अंक होते हैं। दस अंक वाले नाटक को महानाटक कहते हैं। इसकी कथावस्तु गोपुच्छ के

अग्रभाग के समान होनी चाहिए अर्थात् उसके अंक क्रमशः छोटे हों। इसमें पंचसन्धियों, चौसठ अंगों तथा अर्थप्रकृतियों का नियोजन होना चाहिए।

वृत्ति—नाटक में रसानुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वृत्तियों का विधान किया जाता है। वृत्ति उस चेष्टाविशेष को कहते हैं, जिससे किसी विशेष रस की उत्पत्ति हो। वृत्तियाँ चार हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृङ्गार और हास्य रस में होता है और इसमें पुरुष तथा स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। इसमें नृत्य एवं गान का आधिक्य रहता है। सात्त्वती वृत्ति का उपयोग वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसों में होता है तथा उद्धत पुरुषों का संघर्ष वर्णित होता है। आरभटी वृत्ति में छल तथा जादू आदि का प्राधान्य होता है और यह भयानक तथा रौद्र रसों में प्रयुक्त होती है। भारती वृत्ति का प्रयोग करुण एवं अद्भुत रसों में होता है। इसका सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से माना जाता है और इसमें वचन या पाठ्य की प्रधानता होती है। इसमें स्त्रियाँ वर्जित होती हैं और इसका सम्बन्ध पुरुष नटों या भरतों से होता है। विश्वनाथ के अनुसार भारती वृत्ति सभी रसों में प्रयुक्त होती है।

अभिनय—अभिनय नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि इसके द्वारा ही नाटक रङ्गमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। अभिनय के द्वारा ही नाटक की सम्पूर्ण सामग्री की अभिव्यक्ति होती है। अभिनय के चार भेद हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अंगों के संचालन का वर्णन होता है। इसमें विभिन्न प्रकार के रसों के अनुकूल दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। वाचिक के अन्तर्गत कथोपकथन (संवाद) सम्बन्धी सभी निर्देश आते हैं। इसमें बोलने एवं पाठ करने की विधियाँ बतलायी जाती हैं। आहार्य अभिनय का सम्बन्ध वेष-भूषा के परिवर्तन से है। इसमें विविध पात्रों के वस्त्रों का वर्णन होता है तथा उनके अङ्गों के सजाने की विधि बतलायी जाती है। सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि की अवस्था का अनुकरण किया जाता है। इसका सम्बन्ध भावों के साथ है और इसमें उसी की (भावों की) प्रधानता होती है।

पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्त

पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के ६ तत्त्व हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, विचार, भाषा तथा गीत। पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक में कथावस्तु को बहुत महत्त्व दिया है। उनके अनुसार वस्तु के अभाव में तो नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती। वे वस्तु और चरित्र में वस्तु का ही प्राधान्य स्वीकार करते हैं तथा चरित्र को व्यक्ति का निष्क्रिय गुण और वस्तु को उसका

सक्रिय या गतिशील गुण मानते हैं। नाट्य-वस्तु के द्वारा ही व्यक्ति प्रभावित होता है और वही व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण है। अरस्तू का कहना है कि चरित्र के बिना भी नाटक हो सकता है, पर वस्तु के अभाव में तो उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तु के अन्तर्गत ऐसी घटनाएँ आती हैं जिनसे नाटक में कौतूहल की वृद्धि होती है और दर्शक को आनन्दानुभूति होती है। नाटक का कथानक न तो अधिक छोटा हो और न अधिक विशाल, अपितु वह इतना हो कि हमारी स्मृति-शक्ति में समा सके। कथानक का निर्धारण आदि, मध्य और अन्त के रूप में हो। नाटक का कथानक ऐसा हो जिसे प्रेक्षक सरलता-पूर्वक समझ सकें और उसका प्रवाह एक दिशा की ओर हो तथा उसे प्रासङ्गिक कथायें उलझन में न डाल सकें। नाटक की कथा का चुनाव करते समय लेखक को देखना पड़ता है कि वह आकर्षक हो तथा उसमें रोचक प्रसङ्गों का ही समावेश किया जाय। लेखक किसी कथा को काट-छाँट कर उसके रोचक और उपयोगी अंश को ही नाटक का इतिवृत्त बनाये। अच्छे कथानक में अन्विति एवं सुसम्बद्धता का होना अनिवार्य है। कथानक को प्रभावशाली बनाने के लिए आचार्यों ने उसकी पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है। वे हैं—आरम्भिक अवस्था (Exposition), संघर्ष का विकास (Rising action), चरम-सीमा (Crisis), संघर्ष का ह्रास (Denouement या Falling action) तथा उपसंहार (Catastrophe)। पाश्चात्य नाटकों में संघर्ष की प्रमुखता होती है।

प्रारम्भिक अवस्था में मुख्य पात्र एवं उसकी समस्याओं का वर्णन होता है अर्थात् इसमें दिखलाया जाता है कि मुख्य पात्र कौन-कौन से हैं और उनके समक्ष कौन-कौन-सी समस्याएँ हैं। संघर्ष का विकास उसे कहते हैं जिसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों संघर्षों का वर्णन हो। इसमें आकस्मिक ढंग से ऐसी परिस्थिति आ जाती है जिससे घटना के विकास के कारण नवीन समस्या उपस्थित हो जाती है। चरम सीमा उसे कहते हैं जब संघर्ष चरम स्थिति को पहुँच जाय। यह पात्रों के जीवन का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। इस स्थिति में घटनाएँ नई घटनाओं को जन्म देती हैं और चरित्र में परिवर्तन होने लगता है। संघर्ष का ह्रास कथानक की वह स्थिति है जिसमें संघर्ष शिथिल होकर सम्पूर्ण घटना-प्रवाह को समेट लेता है और इस स्थिति में नाटक के सारे क्रिया-कलाप समाप्ति की ओर उन्मुख होते हैं। अन्तिम अवस्था उपसंहार या परिणिति में नाटकीय पात्रों के सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है। यह फल अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। इस अवस्था में नाटक की सारी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं और उनका समाधान हो जाता है।

कथानक की पाँच अवस्थाओं के कारण नाटक पाँच अङ्कों में विभक्त होते हैं और प्रत्येक अङ्क में एक-एक अवस्था का विधान किया जाता है।

पाश्चात्य नाटकों में संकलनत्रय (Three unities) पर जोर दिया जाता था। संकलनत्रय का अर्थ है स्थान, काल एवं कार्य की एकता अर्थात् unity of plaecé, unity of time and unity of action. स्थान की एकता से अभिप्राय यह है कि नाटक में जितनी घटनाएँ प्रदर्शित की जाएँ वे एक ही स्थान की हों या उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो। समय की एकता का अर्थ यह है कि नाटक में जिस घटना का प्रदर्शन हो वह उतने ही समय की हो जितना कि समय अभिनय में लगता है। कार्य की एकता का सम्बन्ध कथावस्तु की एकता से है अर्थात् नाटक का कथानक एकरस हो और उसके निर्वाह के लिए प्रासंगिक कथाओं का नियोजन न किया जाय। अरस्तू ने बताया था कि नाटक की कथा-वस्तु में प्रासंगिक कथा या अनावश्यक घटनाओं की बहुलता नहीं होनी चाहिए। कथानक की एकरसता आवश्यक है, अन्यथा विभिन्न दिशाओं में जाने के कारण कथावस्तु बोझिल और प्रभावहीन हो जाती है।

चरित्र—नाटक में पात्रों का बहुत बड़ा स्थान है। पाश्चात्य नाटकों में चरित्र के चढ़ाव-उतार पर अधिक बल दिया जाता है। वहाँ के नाटक चरित्र-प्रधान होते हैं जबकि भारतीय नाटक रसप्रधान। चरित्र के लिए आवश्यक है कि उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों का स्थापन हो। औचित्य चरित्र की अनिवार्य शर्त है और उचित पात्र में उचित गुण का सन्निवेश किया जाय। जब पात्र महान् उद्देश्य लेकर चलता है तभी उसका चरित्र श्रेष्ठ होता है। चरित्र का निर्माण पात्रों के कार्यों द्वारा होना चाहिए तथा उसका (चरित्र का) उत्थान और पतन सकारण हो। नाटकीय पात्र महान् हों या निकृष्ट, उनके व्यक्तित्व का उभरना आवश्यक है अर्थात् उनका चरित्र स्पष्टतः अंकित हो। साथ ही, उनके कार्यों और व्यक्तित्व में सामंजस्य का होना आवश्यक है। इसमें नायक या प्रमुख पात्र का चरित्र इतना प्रभावशाली हो कि वह नाटक के कार्य की दिशा का निर्धारण स्वयं करे। नाटक में पात्रों की विविधता का होना आवश्यक है। नाटक की सारी घटनाएँ, सारे पात्र नायकोन्मुख होते हैं और नाटकीय कार्य-व्यापार के समस्त सूत्र उसी के हाथ में रहते हैं। नाटक में प्रमुख पात्र कई भी हो सकते हैं, पर नायक एक ही होता है और उसका व्यक्तित्व भव्य होता है। नाटक में नायिका भी एक ही होती है। नायक की चारित्रिक विशेषता का प्रकाशन नाटक के प्रारम्भ में ही होना चाहिए।

नाटककार पात्रों का चयन करते समय ऐसे व्यक्तियों का वर्णन करे, जिनमें गुण-दोष समान हों और वे मानवोचित सफलताओं और दुर्बलताओं से मुक्त हों।

यूराप के नाटकों में पहले गौरवपूर्ण, प्रभावशाली व्यक्तित्व-सम्पन्न एवं उच्च-कुलोद्भव पात्रों का ही समावेश होता था, पर अब साधारण वर्ग के पात्र भी नाटक में स्थान पाने लगे हैं।

कथोपकथन—कथोपकथन या संवाद नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यही वह साधन है जिसके माध्यम से नाटककार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कर अपने जीवनादर्श को स्थापित करता है। कथोपकथन के तीन उद्देश्य हैं—कथावस्तु में विस्तार लाना, चरित्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालना तथा नाटक को एकरसता से बचाकर उसमें मनोरंजक तत्त्वों का समावेश करना। नाटक में संवाद का सुन्दर होना तथा अभिनय के उपयुक्त होना चाहिए; क्योंकि उसकी सफलता संवादों पर ही निर्भर करती है। संवाद यथासम्भव छोटे, प्रभावपूर्ण एवं पात्रानुकूल हों। कथोपकथन कलात्मक एवं अभिनय योग्यता से सम्पन्न रहें। यदि उसमें साहित्यिक गुणों के होते हुए भी अभिनय की योग्यता न रहे तो वैसा कथोपकथन नाटक के लिए उपयुक्त नहीं होता। कथोपकथन की सफलता इसमें है कि अभिनेता उसे बिना व्यवधान के बोल सकें एवं दर्शक सरलतापूर्वक उसे समझ सकें। विषय के अनुरूप संवादों में वैविध्य का होना आवश्यक है। कॉमदी के संवाद यथासम्भव हास्य एवं व्यंग्य-प्रधान तथा त्रासदी के संवाद गरिमापूर्ण एवं विचार-प्रधान रहें। विभिन्न पात्रों के संवादों की भाषा भिन्न होनी चाहिए और उनके स्वभाव एवं परिस्थिति का ध्यान रखकर उनकी भाषा का नियोजन किया जाय। व्यक्ति-भेद के अनुसार नाटकीय संवाद की भाषा में भी वैविध्य होने से वह अधिक प्रभावशाली और प्राणवंत हो जाता है। पात्रों के संवाद उनके चरित्र के सूचक होते हैं, अतः संवाद का उद्देश्य चरित्र-निर्माण में सहयोग देना होना चाहिए।

भाषा—भाषा को अरस्तू ने नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग मानकर उस पर अत्यन्त विस्तार के साथ विचार किया है। उसके अनुसार भाषा असाधारण एवं स्पष्ट होनी चाहिए। अभिप्राय यह कि नाटक की भाषा साधारण स्तर से ऊँची हो और उसमें कलात्मकता का समावेश किया जाय। नाटक की भाषा लाक्षणिक एवं रूपक के प्रयोग से युक्त हो, पर उसमें ध्यान रखना चाहिए कि वह कृत्रिम न होकर बोधगम्य बनी रहे। यथासम्भव नाटक की भाषा सरल और सर्वजन-ग्राह्य हो; क्योंकि नाटक दर्शकों के लिए होता है।

गीत—गीत नाटक के अभिन्न अंग हैं। नाटक में गीतों का नियोजन रंगमंच की दृष्टि से हो और वे कथानक के साथ सुसम्बद्ध रहें। अभिप्राय यह कि नाटक में गीत ऊपर से जोड़े हुए प्रतीत न हों। वे वातावरण के अनुकूल हों और

कथानक के साथ उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना रहे। गीत निर्धारित स्थानों पर हों, इसके अभाव में नाटक अपूर्ण दिखायी पड़ता है।

नाटक का मुख्य उद्देश्य है रंगमंच के अनुरूप उसका निर्माण किया जाना। रंगमंच ही वह कसौटी है जिस पर नाटक खरा उतरता है। आजकल अधिकांश नाटक रंगमंच की दृष्टि से लिखे जाते हैं। आधुनिक युग में नाटक के देशकाल, शैली और उद्देश्य आदि तत्त्वों का कथन किया जाता है। ये सभी तत्त्व उपन्यास या कहानी के उपर्युक्त तत्त्वों के ही समान होते हैं। नाटक के अनेक प्रकार हैं— त्रासदी (ट्रेजेडी), कॉमदी, समस्यानाटक, प्रहसन (फार्स), मेलोड्रामा, प्रतीक नाटक आदि।

उपन्यास

उपन्यास का महत्त्व—उपन्यास आधुनिक युग का अत्यन्त लोकप्रिय साहित्य-रूप है जिसमें जीवन की समस्याओं का समाधान उपस्थित किया जाता है। यह मानव जीवन की समस्याओं का यथार्थ चित्र अंकित करने के कारण जीवन के अति निकट है तथा नाटक और महाकाव्य की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त या स्वच्छन्द साहित्य-रूप है, जिसमें जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। इसमें मानव जीवन का रोचक एवं मनोरंजक चित्र यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया जाता है। जीवन या मानव जीवन के चित्र को अंकित करने में उपन्यास अधिक सफल हुआ है, फलतः इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया है। इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण इसकी रोचकता है। समाज का जैसा भी रूप होता है, उसे उपन्यासकार उसी रूप में चित्रित कर देता है, निदान इसमें जीवन के यथार्थ अनुभव को आधारभूत तत्त्व बनाया गया है। यह कल्पना के माध्यम से यथार्थ जीवन का चित्र अङ्कित करने वाला अधिक सिद्धहस्त साहित्य-रूप है, जिसमें जीवन का संघर्ष और समाज का यथार्थ और नवीन तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यास का महत्त्व उसकी लोकप्रियता, सजीवता, प्रभावशीलता तथा जीवन को विस्तृत चित्रफलक पर उपस्थित करने के कारण है। यह मानव जीवन का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है।

"The only reason for the existence of novel is that it does attempt to represent life."—हेनरी जेम्स।

आजकल उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है और इसमें कौतूहल के अतिरिक्त बुद्धि तथा भावतत्त्व का भी समावेश हुआ है। यह अब प्राचीन अतिलौकिक घटनाओं से हटकर मानव जीवन तक केन्द्रित हो गया है।

उपन्यास का अर्थ और परिभाषा—उपन्यास शब्द अँगरेजी के Novel नॉविल का समानार्थी है। नॉवेल शब्द इटालियन शब्द 'नाविला' से बना है जिसका अर्थ है सूचना। अँगरेजी का नॉविल शब्द नयापन या Newness का पर्यायवाची है जिसका अर्थ नवीन है। गुजराती में उपन्यास के लिए नवल शब्द का प्रयोग होता है और मराठी में इसे कादम्बरी कहते हैं। उपन्यास भारतीय नाट्यशास्त्र का शब्द है जिसका अर्थ है—उपन्यासः प्रसादनम् अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। चूँकि उपन्यास के अध्ययन से पाठकों का मनोरंजन

होता है अर्थात् वे प्रसन्नचित्त हो जाते हैं, अतः हिन्दी में आख्यायिका या बृहत्कथा के लिए उपन्यास शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'उपन्यास' उप + न्यास के योग से बना है जिसका अर्थ है निकट (उप) रखना (न्यास)। उपन्यास के माध्यम से लेखक जीवन की कथा को पाठकों के निकट रखता है, अतः इसका यह नाम (उपन्यास) सार्थक है। उपन्यास की कुछ परिभाषाएँ—

(१) **न्यू इंगलिश डिक्शनरी**—"नॉविल वह विस्तृत गद्यात्मक प्रकथन-प्रधान रचना है जिसमें वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाली घटनाओं और पात्रों का एक व्यवस्थित कथावस्तु के रूप में वर्णन रहता है।"

"A ficticious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot."

(२) **डॉ० श्यामसुन्दरदास**—"उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

(३) **मुंशी प्रेमचन्द**—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

(४) **डॉ० गुलाबराय**—"उपन्यास कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है जो व्यक्ति एवं समाज की परिस्थितियों को अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है।

आधुनिक युग में उपन्यास गद्य का एक सशक्त रूप माना जाता है। इसके माध्यम से उपन्यासकार जीवन की वास्तविक समस्या को, मानव जीवन के यथार्थ चित्र को, कल्पना का रंग चढ़ाकर प्रस्तुत करता है। इसका जीवन और समाज के साथ निकट का सम्बन्ध है। आधुनिक समाज की विषमताओं विचित्रताओं, विद्रूपताओं तथा मानव की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को जितनी सफलता के साथ उपन्यासों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, उतना अन्य साहित्य-रूपों में नहीं। अतः उपन्यास जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला वास्तविक साहित्य-रूप है। इसमें यथार्थ की भूमि पर मानव की मार्मिक कथा को काल्पनिक ढंग से विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है।

उपन्यास और अन्य साहित्य-रूप

उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास तथा महाकाव्य में शिल्पगत अन्तर होते हुए भी साम्य है। दोनों में मानव जीवन का विस्तृत रूप प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् उपन्यास का वर्ण्य-विषय भी महाकाव्य की भाँति सम्पूर्ण मानव जीवन होता है। कथानक के अतिरिक्त दोनों की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पीठिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। दोनों में अन्तर यह है कि महाकाव्य की अभिव्यक्ति पद्य के माध्यम से होती है तो उपन्यास गद्य में रचित होता है। उपन्यास के चित्रण में नाटकीयता होती है तो महाकाव्य में वर्णनात्मकता का प्राधान्य होता है। महाकाव्य की कथावस्तु अधिकतर परम्परागत, ऐतिहासिक या पौराणिक होती है, पर उपन्यास का कथानक अद्यतन और काल्पनिक होता है। वैसे ऐतिहासिक उपन्यास भी होते हैं, जिनकी कथावस्तु ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध होती है, पर उसमें इतिहास कम और कल्पना का रङ्ग प्रगाढ़ होता है। महाकाव्यकार किसी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति का चित्रण पद्य में करता है, पर उपन्यासकार अपने जीवनानुभव को जीवन के किसी पक्ष को आधार बनाकर उसे काल्पनिक ढङ्ग से प्रस्तुत करता है अर्थात् वह अपने जीवन-सम्बन्धी अनुभव का कल्पनात्मक चित्र उपस्थित करता है। उपन्यास और महाकाव्य में केवल अभिव्यक्तिगत भेद ही नहीं, दोनों में तात्त्विक अन्तर भी है। यद्यपि दोनों के वैधानिक नियमों में परस्पर साम्य है तथापि उनकी स्वीकृतियों में अन्तर प्रदर्शित होता है। महाकाव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें वैधानिक नियमों का पूरी दृढ़ता के साथ निर्वाह किया जाय, पर उपन्यास में वैधानिक नियमों के परिपालन में काफी छूट रहती है। फलतः उपन्यास लेखक महाकाव्यकार की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होता है। नवीन युग की सामाजिक और आर्थिक विषमताओं की अभिव्यक्ति उपन्यास में होती है अर्थात् युग के सामाजिक और आर्थिक वैषम्य को रूप देने के लिए उपन्यासों की सृष्टि हुई है; पर महाकाव्य जातीय जीवन और सांस्कृतिक परिवेश को अधिक सशक्त ढंग से प्रस्तुत करता है। महाकाव्य का विकास सुनिश्चित और सुनियोजित सामाजिक मूल्यों के आधार पर हुआ था, पर उपन्यास में युग के संघर्ष और यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति होती है। उपन्यास समाज के संघर्ष-संकुल पक्ष को अभिव्यक्त करता है, पर महाकाव्य में देश की समृद्धि एवं समाज के शान्तिमय क्षणों की अभिव्यक्ति होती है। महाकाव्य के चरित्र परम्परागत नियमों में आबद्ध होते हैं, पर उपन्यास में वर्ग का नहीं, व्यक्ति का चरित्र उभरता है। महाकाव्य में महदनुष्ठान, महान् प्रयोजन, महान् आयोजन, महान् पात्र, महत् उद्देश्य (उदात्त) और महान् शैली होती है, पर उपन्यास में उपर्युक्त तथ्य नहीं होते। महाकाव्य धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष को अपना महत् फल मानता है तथा उसमें जातीय महायुद्ध या सांस्कृतिक घटना का वर्णन होता है, पर उपन्यास में ऐसे तथ्य नहीं होते। महाकाव्य में सामंतवादी जीवन का चित्रण होता था, पर उपन्यास में मध्यवर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ और इसमें शोषित और सर्वहारा वर्ग को वाणी मिली। उपन्यास का कथानक जीवन के सामान्य धरातल को स्पर्श करता है, पर महाकाव्य की कथा महान्, उदात्त और जीवन के गरिमामय पक्ष का संस्पर्श करती है। महाकाव्य आदर्शवादी काव्यरूप है तो उपन्यास यथार्थवादी रचना।

उपन्यास और नाटक—नाटक और उपन्यास में तात्त्विक भेद है। नाटक दृश्यकाव्य है और उपन्यास श्रव्यकाव्य। नाटक की सफलता रंगमंच के कारण होती है अर्थात् उसका अभिनय किया जाता है, पर उपन्यास का आनन्द पढ़कर या सुनकर प्राप्त किया जाता है। उपन्यास में लेखक का व्यक्तित्व पाठक के समक्ष रहता है अर्थात् या तो वह स्वयं कथा का वर्णन करता है या किसी पात्र के मुख से उसे कहलाता है, पर नाटक में नाटककार स्वयं नहीं बोलता, उसके पात्र बोलते हैं अर्थात् नाटककार का व्यक्तित्व पात्रों के व्यक्तित्व से जुड़ा रहता है। सभी स्थितियों में पाठक को उपन्यासकार के व्यक्तित्व के साथ संबंध स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता रहता है, उसे ऐसा आभास होता है कि वह लेखक के साथ है। इससे यह लाभ होता है कि उपन्यासकार को पाठक की अभिरुचि का बराबर ध्यान रहता है। ठीक इसके विपरीत नाटककार अपनी कृतियों से अपने को सर्वथा पृथक् रखता है। उपन्यास में वर्णन की प्रधानता होती है अर्थात् वह किसी विषय को शब्द के माध्यम से प्रस्तुत करता है, पर नाटककार को विषय के स्वरूप को अंकित करने का अवकाश नहीं रहता, वह पात्रों को रंगमंच पर अभिनीत करता है। उपन्यासकार शब्दों के सहारे पात्रों की वेश-भूषा, स्वभाव, हावभाव एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं को चक्षुगोचर करता है। उपन्यास को इस कार्य के लिए किसी रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती, उसका रंगमंच तो उसके भीतर ही रहता है। उपन्यासकार अपनी भावनाओं या मान्यताओं का स्वतंत्र रूप से भी वर्णन करने में समर्थ होता है, पर नाटककार को ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं होती। वह किसी पात्र के माध्यम से अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से या सीधे पाठकों के समक्ष आ सकता है, पर नाटककार का व्यक्तित्व नाटक के पात्रों में लिपटा रहता है और वह पात्रों के मुख से वार्तालाप के द्वारा अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। उपन्यास में समय की कोई सीमा नहीं रहती, पर नाटक में समय की पाबंदी लगी रहती है। उपन्यास हजारों पृष्ठों में समाप्त हो सकता है, पर

नाटक को रंगमंच का ध्यान रखकर ३ या ४ घंटों में समाप्त होना चाहिए। इसलिए उपन्यासकार को समय और आकार पर प्रतिबंध नहीं होता, वह इस दृष्टि से स्वतंत्र होता है। नाटककार को अभिनय के साधनों तथा रंगमंच की उपयोगिता के अतिरिक्त प्रेक्षकों (दर्शकों) के धैर्य का भी ध्यान रखना पड़ता है, पर इस दृष्टि से उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत होता है और उस पर समय की कोई सीम नहीं रहती। नाटक में कथानक कथोपकथन (संवाद) के द्वारा आगे बढ़ता है और कथावस्तु का विकास परिस्थितियों एवं क्रियाओं के सहयोग से होता है, इसमें नाटककार तटस्थ रहता है। उपन्यासकार प्रत्यक्ष दृष्टि से भी कुछ कहता है, पर नाटककार पात्रों के मुख से बोलता है।

उपन्यास और कहानी—इस विषय का विवेचन कहानी के अन्तर्गत है।

उपन्यास के तत्त्व—उपन्यास के मुख्यतः ६ तत्त्व हैं कथावस्तु या कथानक (plot), चरित्र-चित्रण या पात्र (character), कथोपकथन या संवाद (dialogue), वातावरण (environment), शैली (style) तथा उद्देश्य या प्रयोजन (aim of life)।

कथावस्तु या कथानक—उपन्यास के सभीं तत्त्वों में कथावस्तु का सर्वाधिक महत्त्व है; क्योंकि यही उपन्यास का मूल होता है अर्थात् कथानक या कथा के आधार पर ही उपन्यास की नींव पड़ती है। उपन्यास में रोचकता का समावेश कथावस्तु के ही कारण होता है। यही वह तत्त्व है जो पाठकों को मनोरंजन प्रदान करता है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि कथावस्तु से चरित्र-चित्रण का कम महत्त्व है। आधुनिक युग में मनोविज्ञान का विकास होने के कारण चरित्र-चित्रण की महत्ता अधिक बढ़ गयी है। उपन्यास का मूलाधार कथानक ही है, जिस पर नाना प्रकार के मनोरम चित्र खींचे जाते हैं। उपन्यासकार की सफलता और उसका कौशल या पटुता कथानक के सुन्दर संघटन या चयन में परिलक्षित होती है। यह ठीक है कि वर्णन-कौशल के द्वारा भी उपन्यासकार कथा को रोचक बना सकता है, पर उसकी (उपन्यास की) रोचकता कथावस्तु में ही निहित रहती है।

उपन्यास में जिन घटनाओं और कार्यों का वर्णन होता है और जिन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसे ही उसका कथानक कहते हैं। यद्यपि आधुनिक युग के उपन्यासों में कथावस्तु अत्यन्त विरल एवं सूक्ष्म होती है तथापि उनमें कथा का अंश अवश्य विद्यमान रहता है; क्योंकि कथावस्तु के अभाव में उपन्यास में औपन्यासिकता नहीं आ सकती। उसमें कहानी का होना आवश्यक है। उपन्यास की कथावस्तु कहीं से भी ग्रहण की जा सकती है। इतिहास,

पुराण, समाज, विज्ञान, राजनीति, जीवनी और अनुश्रुति किसी से भी उपन्यास का कथानक लिया जा सकता है। उपन्यास का जीवन के साथ निकट का संबंध होता है, अतः उसका कथानक जीवन से ही लिया जाना चाहिए; जिससे कि उसमें सहज ही आकर्षण का भाव आ जाय और उपन्यास भी सजीव हो उठे। उपन्यास के कथानक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उपन्यासकार उसके निरूपण में जीवन के प्रति सहज ही ईमानदार होकर उसका वास्तविक चित्र खींचे और उसमें अपनी अनुभूतियों या जीवनानुभव का रंग भर दे। मनुष्य के स्वभाव, उसके संघर्ष, उसकी आशा, आकांक्षा, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का यथार्थ रूप प्रस्तुत कर ही उपन्यासकार अपनी कृति को महनीय बना सकता है। वह जीवन के जिस पक्ष का वर्णन करता हो, उसका उसे वास्तविक और सच्चा अनुभव होना चाहिए। कथावस्तु अपने में कितना भी महान् क्यों न हो, यदि उपन्यासकार के अनुभवों में सच्चाई न होगी तो उपन्यास महान् नहीं हो सकता।

अच्छे कथानक में मौलिकता, रोचकता, कौशल, संभाव्यता और गठन का होना आवश्यक है। मौलिकता कथानक का सहज गुण है। इसका अभिप्राय यह है कि लेखक किसी कथा का ऐसा वर्णन करे कि उसमें अभिनवता या नयापन दिखाई पड़े और वस्तु का निरूपण इस प्रकार किया जाय कि वह हृदयाकर्षक बन सके। चिरपरिचित विषय में भी मौलिकता के कारण लेखक उसे आकर्षक बना सकता है। उपन्यास के कथानक में कौतूहल का गुण रहना आवश्यक है अर्थात् कथा का चुनाव ऐसा किया जाय कि पाठकों का कौतूहल उसमें आदि से अन्त तक बना रहे। औत्सुक्य को जगाना ही सफल कथानक का लक्षण है और उसका इस प्रकार समावेश किया जाय कि पाठकों की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय। कौशल का अर्थ है कि उपन्यास की कथावस्तु में संबंध का निर्वाह हो जिससे उसकी उलझनें सुलझती जाएँ। उपन्यास की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—सरल और जटिल (पेचीदा)। जटिल कथावस्तु में एक से अधिक कथाएँ गुंफित रहती हैं अर्थात् एक साथ उसमें कई कथाएँ चलती रहती हैं। ऐसी स्थिति में कौशल की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। संभाव्यता कथानक का आवश्यक गुण है। इसके कारण पाठक पग-पग पर चकित होता रहता है और कथानक में सजीवता आ जाती है। कोई घटना संयोगवश घटती हो तो भी वह संभाव्य जान पड़े। संगठितता का अभिप्राय यह है कि उपन्यासकार कथानक की विभिन्न घटनाओं में अपनी कलाचातुरी के द्वारा एकसूत्रता स्थापित कर उनमें क्रमबद्धता ला दे। जीवन में कितनी ही ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनका मनुष्य के जीवन के साथ कोई सामंजस्य नहीं होता। कुशल उपन्यासकार की

सफलता उनमें सामंजस्य स्थापित करने में है। उपन्यास की कोई भी घटना, कोई भी चित्र और कोई भी वर्णन असम्बद्ध न हो, प्रत्येक का सम्बन्ध कथावस्तु से होना चाहिए अर्थात् उपन्यास में कारण-कार्य की शृङ्खला ढीली न हो।

कथावस्तु के गुंफन के विचार से उपन्यास के दो प्रकार हैं—असंबद्ध कथानक का उपन्यास Novel of loose plot) एवं सम्बद्ध कथानक का उपन्यास (Novel of organic plot)। असम्बद्ध कथानक का उपन्यास वह है जिसमें विविध घटनाओं में कोई संगति नहीं होती और कहानी में अनेक शृङ्खलाएँ होती हैं। ऐसे उपन्यासों में पात्र ही अन्विति लाते हैं और उसके केन्द्र में रहकर बिखरी हुई घटनाओं में एकसूत्रता स्थापित करते हैं। ऐसे उपन्यास किसी पात्र के जीवन की विविध घटनाओं के इतिहास होते हैं। इन उपन्यासों में एक के पश्चात् दूसरे दृश्य आते रहते हैं। पर, सम्बद्ध कथानक के उपन्यासों में ठीक इसके विपरीत प्रासंगिक कथाएँ या उपकथानक प्रधान कथा से सम्बद्ध होते हैं। इन उपन्यासों में विविध प्रसङ्ग एवं घटनाएँ परस्पर जुड़ी रहती हैं।

उपन्यासकार उपन्यास के कथानक को चार प्रकार से प्रस्तुत करता है। वर्णनात्मक या ऐतिहासिक ढङ्ग से—इसमें उपन्यासकार तटस्थ होकर कथा को अपने से बढ़ाता है।

आत्मकथात्मक-- इसमें पात्र (नायक या नायिका) अपनी कथा स्वयं कहते हैं।

पत्रप्रणाली—इसमें डायरी या पत्रों के द्वारा कथा का वर्णन होता है।

मिश्रित—इसमें उपर्युक्त सभी साधनों का मिश्रण होता है।

चरित्र-चित्रण—उपन्यास में जिन व्यक्तियों या पात्रों का वर्णन होता है उन्हें चरित्र कहते हैं और उनकी गतिविधियों या चारित्रिक विकास को चरित्र-चित्रण कहा जाता है। आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण का बहुत बड़ा महत्त्व है। प्राचीन समय में उपन्यासों में कथानक की जटिलता और कौतूहल पर बल दिया जाता था और उपन्यासों में कथावस्तु ही सब कुछ होती थी, पर वैज्ञानिक विकास के साथ-ही-साथ मानव का महत्त्व बढ़ गया और उपन्यासों में पात्रों के चारित्रिक उतार-चढ़ाव की महत्ता स्वीकार की गयी। मनोविज्ञान के विस्तार ने तो पात्रों की मनःस्थिति के विश्लेषण को सर्वाधिक महत्त्व दिया। किसी परिस्थिति-विशेष में पड़ने पर पात्रों के मन में विरोधी और अविरोधी जिन भावनाओं का टकराव होता है, आज उसकी प्रतिष्ठा अधिक है। अतः अब पात्र उपन्यासों की रीढ़ हो गया है।

उपन्यास जीवन की गाथा या कहानी है, अतः उसमें सहज ही पात्रों या चरित्रों की प्रधानता सिद्ध हो जाती है। उपन्यास के पात्रों का सजीव,

स्वाभाविक और सहज होना आवश्यक है, वे अलौकिक और असाधारण न हों। पात्रों का ऐसा चुनाव किया जाय जो अपने कार्यों तथा विचारों के कारण पाठकों की कल्पना में सजीव हो जाएँ। वे पात्र जो हमारी भावनाओं को प्रभावित करते हैं या अपने कार्य-कलाप के द्वारा हमारी सहानुभूति प्राप्त करते हैं, हमारे स्मृति-पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाते हैं।

आधुनिक युग के उपन्यास घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान होते हैं। पाठक कथा और उपन्यास की घटना को भले ही विस्मृत कर दे, पर पात्र तो उसके मन से उतरते नहीं। ऐसे पात्र स्वतः घटनाओं तथा परिस्थितियों का निर्माण कर अपने व्यक्तित्व के द्वारा उन पर अधिकार कर लेते हैं। ऐसे पात्रों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र होता है और वे लेखक के इच्छानुसार अपना चारित्रिक विकास न कर स्वयं स्वतन्त्र गति से बढ़ते जाते हैं अर्थात् वे लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं होते। ये पात्र उपन्यास में उपस्थित होने वाले संघर्षों और समस्याओं का सामना स्वयं करते हैं। उपन्यास में पात्र का बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूपों का चित्रण होता है। बाह्य-रूप के अन्तर्गत उसका स्वरूप, आकार, वेश-भूषा, आचरण, रहन-सहन, चाल-ढाल तथा बातचीत के विशेष ढंग का चित्रण होता है, पर आन्तरिक रूप के अन्तर्गत उसकी मानसिक और बौद्धिक विशिष्टताएँ आती हैं। लेखक अपनी वर्णन-शैली के कौशल द्वारा पात्रों के स्वरूप एवं उनके ब्यौरों का सजीव चित्रण करता है और इस कला में वह जितना ही अधिक दक्ष होगा उतना ही अधिक उसके पात्रों का स्वरूप प्रभावशाली होगा। पात्रों के आन्तरिक स्वरूप का उद्घाटन करने के लिए लेखक दो विधियों को अपनाता है—प्रत्यक्ष चित्रण-विधि एवं अप्रत्यक्ष चित्रण-विधि (Direct or indirect method)। प्रथम पद्धति में पात्रों के विचारों, भावों एवं उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन कर लेखक उनके सम्बन्ध में अपना मन्तव्य उपस्थित करता है। अप्रत्यक्ष विधि के अन्तर्गत स्वयं लेखक किसी पात्र के सम्बन्ध में अच्छा या बुरा विचार व्यक्त न कर उसके कार्य-कलाप, वार्तालाप तथा अन्य पात्रों पर पड़े हुए उनके प्रभावों का वर्णन कर उनके सम्बन्ध में पाठकों को चिन्तन करने और अपना मत स्थिर करने के लिए स्वतन्त्र कर देता है।

विद्वानों ने पात्रों के चार वर्ग किये हैं—

(१) **व्यक्तिप्रधान चरित्र** (Individual character) ऐसे पात्र किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते अर्थात् उनमें तत्सम्बन्धी गुण-दोषों का अभाव होता है और वे अपना विशेष चारित्रिक गुण धारण करते हैं।

(२) वर्गप्रधान चरित्र (Type character —ये पात्र किसी वर्ग-विशेष (किसान, शिक्षक, श्रमिक, जमींदार आदि) का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

(३) स्थिर चरित्र (Static character)—जो पात्र प्रारम्भ से अन्त तक एक ही स्वभाव के या समान होते हैं, उन्हें स्थिर चरित्र कहा जाता है। ये परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते ।

4 गतिशील पात्र (Round character)—जो पात्र प्रारम्भ से अन्त तक परिस्थिति एवं वातावरण के अनुसार अपने को मोड़ते रहते हैं, उन्हें गतिशील या विकसनशील पात्र कहा जाता है। परिस्थिति के छोटे आघात से भी इनके जीवन की दिशा परिवर्त्तित हो जाती है।

उपन्यास में चरित्र-चित्रण की कई प्रणालियाँ भी हैं—

विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical method)—जब उपन्यासकार किसी पात्र का चरित्र स्वयं अङ्कित करे या उस पर प्रकाश डाले तो उसे विश्लेषणात्मक पद्धति कहते हैं ।

अभिनयात्मक पद्धति (Dramatic method) जब उपन्यासकार पात्र का चरित्र स्वयं अंकित न कर अन्य पात्रों द्वारा या किसी पात्र के कार्य-कलाप से या वार्तालाप द्वारा कराये तो उसे अभिनयात्मक पद्धति कहते हैं ।

कथोपकथन—इसका अर्थ संवाद, वार्तालाप (बातचीत) या कथोपकथन है। यह नाटक का एक प्रसिद्ध अङ्ग है, पर इसकी उपयोगिता उपन्यासों में भी कम नहीं है। कथोपकथन का सम्बन्ध कथानक और पात्र दोनों से होता है। इसके द्वारा एक ओर जहाँ कथावस्तु का विकास होता है वहाँ दूसरी ओर चरित्र या पात्रों की विशेषताओं का भी उद्घाटन होता है। वह संवाद जो न तो कथानक का विस्तार करता है या उसको अग्रसर करने में सफल नहीं होता और न चरित्र पर प्रकाश डालता है, वह उच्चकोटि का संवाद नहीं माना जाता। वह संवाद के लक्ष्य से च्युत हो जाता है। पात्रों के वार्तालाप से कथा आगे बढ़ती है और किसी पात्र के सम्बन्ध में जब अन्य पात्र उसके गुण-दोष का विश्लेषण करते हैं तो उससे पात्र के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन होता है। कथोपकथन का तीसरा उपयोग यह है कि वह सम्पूर्ण उपन्यास से एकरसता को हटाकर उसे मनोरंजक, रोचक और नाटकीय तत्त्वों से युक्त कर देता है। कथोपकथन की भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए और उसे पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना आवश्यक है। कथोपकथन का स्वाभाविक, सार्थक, सजीव और संक्षिप्त होना चाहिए। कथोपकथन के द्वारा पात्रों के भाव और विचार, उनकी संवेदनाएँ तथा उनको क्रिया-प्रतिक्रिया में अन्तर्निहित प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति होती है।

वातावरण—उपन्यास में जिस क्षण या समय में और जिस स्थान पर घटनाएँ घटित होती हैं, उसे वातावरण कहते हैं। अतः उपन्यास के इस तत्त्व का अपना महत्त्व है। वातावरण के अन्तर्गत दो तथ्यों पर विचार होता है—प्राकृतिक पीठिका अथवा चारों ओर की परिस्थिति तथा काल या समय-विशेष से सम्बन्ध रखने वाले आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा जीवन-पद्धति। प्रथम को भौतिक वातावरण कहा जाता है और द्वितीय को सामाजिक वातावरण। उपन्यास में लेखक का यही कर्त्तव्य या लक्ष्य होना चाहिए कि वह जिस युग के वातावरण का चित्रण करता है, उसका वह सजीव चित्र प्रस्तुत कर दे। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो उपन्यासकार को देशकाल, भाषा, रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि का सूक्ष्म ज्ञान रखना पड़ता है, अन्यथा तनिक भी असावधानी के कारण या विवरण की भूल होने से उसका प्रयत्न हास्यास्पद सिद्ध हो जायगा। ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति, विचारधारा एवं जीवनादर्श का चित्रण आवश्यक होता है। भौतिक वातावरण—नदी, पर्वत आदि–के चित्रण में भी चातुर्य, सूक्ष्मेक्षण की शक्ति और कलात्मकता का होना अनिवार्य है।

औपन्यासिक पात्रों की गतिविधि और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का वास्तविक ज्ञान तथा उनकी समस्या का समुचित परिचय बिना परिस्थिति या वातावरण को जाने नहीं हो सकता। अतः उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने पात्रों की बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों का वास्तविक या यथार्थ रूप चित्रित करे। देशकाल का चित्रण करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसका सम्बन्ध उपन्यास के विषय से हो और वह कथानक को स्पष्ट करने में सहायता करे। देशकाल या वातावरण के अन्तर्गत व्यापक रूप से सामाजिक जीवन के किसी पक्ष का उद्घाटन होता है।

उद्देश्य—उपन्यास जीवन का चित्र है, अतः उसमें मनुष्य के सुख-दुःख, आशा-निराशा और राग-द्वेष का वर्णन होता है। प्रत्येक उपन्यास में जीवन या समाज की किसी समस्या को उठाया जाता है और उपन्यासकार पात्रों एवं घटनाओं द्वारा उसका समाधान उपस्थित करता है। साहित्य का ऐसा कोई भी रूप नहीं है जिसका कोई उद्देश्य या प्रयोजन न हो, अतः उपन्यास की रचना भी निष्प्रयोजन नहीं होती। उपन्यासकार किसी मान्यता या विचार से प्रभावित होकर ही उपन्यास की रचना करता है और इस सम्बन्ध में उसके अपने स्वतन्त्र जीवनादर्श या जीवनमूल्य होते हैं। वह उन्हीं विचारधाराओं की अभिव्यक्ति के लिए पात्र एवं घटनाओं की योजना कर अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। अतः कोई भी उपन्यास निरुद्देश्य नहीं लिखा जा सकता, उसके निर्माण में उसके

रचयिता के जीवनमूल्यों को वाणी मिलती है। उपन्यासकार का उद्देश्य है जीवन की व्याख्या करना और वह अपने दृष्टिकोण से इस विषय का विश्लेषण करता है। पर, उपन्यास की रचना करने के पूर्व उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपने पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उसकी रचना न करे, नहीं तो उसकी कृति एकमात्र प्रचार का साधन बन जायगी और उसके पात्र उसके हाथ के खिलौने हो जाएँगे। साथ ही, पाठक को यह भान न हो कि उपन्यासकार ने अपने सिद्धान्तों का समावेश करके ही उपन्यास की रचना की है। सफल उपन्यासकार अपनी मान्यताओं के साथ कथानक, पात्र एवं वातावरण को इस प्रकार मिला देता है कि यह ज्ञात नहीं होता कि वह किसी सिद्धान्त का प्रचार कर रहा है। उपन्यासकार कथानक और पात्रों की इस प्रकार योजना करे कि उससे जीवन के विविध पक्षों की व्याख्या भी हो जाय और अप्रत्यक्ष रूप से उसके सिद्धान्तों की सिद्धि भी हो। वह अपने विचारों का प्रतिपादन व्यक्तिगत टिप्पणी के द्वारा अथवा पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से करे। वह या तो स्वयं भी उपस्थित होकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है या अपनी मान्यता के अनुसार किसी पात्र की सृष्टि कर उसके माध्यम से अपने जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति करता है। इसमें दूसरी विधि ही अधिक सुन्दर और कलात्मक होती है। उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप से नीति या नैतिकता का प्रचार न होकर अप्रत्यक्ष रीति से होना चाहिए अर्थात् उसमें घटनाओं का इस प्रकार संघटन हो जिससे असत्य के ऊपर सत्य की विजय दिखायी जाय। उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन को कलात्मक ढंग से या कला की रसमयी प्रणाली का अवलंब ग्रहण कर व्यक्त करे।

शैली—शैली उपन्यास का वह पक्ष है जिसका सम्बन्ध बाहरी सजावट से है। उपन्यास की शैली के ऊपर ही उसकी सफलता निर्भर करती है। यदि लेखक को भाषा पर अधिकार न हो तो वह पाठकों का मनःप्रसादन नहीं कर सकता। कथानक में संगति, क्रमबद्धता तथा संगठन-शैली के कौशल के ही कारण आते हैं। श्रेष्ठ उपन्यासकार होने के लिए श्रेष्ठ गद्यकार भी होना आवश्यक है। अपने विचार को दूसरों तक पहुँचाने में शैली माध्यम का कार्य करती है और उसके लिए भाषा एक अनिवार्य साधन सिद्ध होती है। किसी भी रचना में नवीनता का समावेश शैली द्वारा ही होता है और इसी में साहित्य की गतिशीलता निहित है। जब तक कथन का ढंग सुन्दर नहीं होगा तब तक रचना प्रभावशाली नहीं हो सकती। अतः शैली की श्रेष्ठता के कारण ही उपन्यास महान् बन सकता है।

उपन्यास के भेद—जीवन के वैविध्य का चित्रण करने के कारण उपन्यास के स्वरूप में भी विविधता दृष्टिगोचर होती है। उपन्यासों का वर्गीकरण कथानक

की शैली की दृष्टि से, कथानक के विचार से तथा विषय की दृष्टि से किया जाता है। उपन्यास के कुछ भेद इस प्रकार हैं—

(१) **सामाजिक उपन्यास**—जो उपन्यास समाज और उसकी विविध समस्याओं को विषय बनाकर लिखे जाते हैं, उन्हें सामाजिक उपन्यास कहा जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में किसी विशेष समय या काल की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का वर्णन किया जाता है। ऐसे उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व होता है और वे आगे आने वाले समय या युग के लिए इतिहास का कार्य करते हैं। चूँकि इनमें समाज की विविध समस्याओं का चित्रण रहता है, अतः इनमें प्रचारात्मकता की गंध आती है। इन उपन्यासों की भी कई कोटियाँ होती हैं—आदर्शवादी, यथार्थवादी, रोमांटिक और प्रकृतिवादी। सामाजिक उपन्यास समाज के सुधारवादी आन्दोलनों, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक आन्दोलनों को अपना विषय बनाकर चलते हैं और उनमें कतिपय मतों और सिद्धान्तों का प्रचार भी होता है। आधुनिक युग में मार्क्सवादी या गांधीवादी सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। समाजवादी या साम्यवादी उपन्यास मुख्य रूप से यथार्थवादी होते हैं; क्यों कि इनमें समाज के शोषक और सर्वहारा वर्ग का यथार्थ चित्रण होता है। हिन्दी में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और यशपाल आदि ने अधिकतर सामाजिक उपन्यास लिखे हैं।

(२) **ऐतिहासिक उपन्यास**—जिन उपन्यासों में ऐतिहासिक सत्य का वर्णन हो, उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। ये उपन्यास ऐतिहासिक घटनाओं को मुख्य आधार बनाकर लिखे जाते हैं, पर इनमें यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का प्राधान्य होता है। उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासों में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण या समन्वय होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में युगविशेष के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिवेश का सुन्दर चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में अतीतकालीन घटनाओं के आधार पर वर्त्तमान युग की समस्याओं का समाधान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—मनोविज्ञान की खोजों और फ्रायडीयन मनोविश्लेषण के विकास के कारण आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रचलन हुआ है। ऐसे उपन्यासों में विभिन्न मनःस्थितियों का चित्रण होता है। हिन्दी के उपन्यासकारों में इलाचन्द जोशी और अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे हैं।

अन्य उपन्यासों में आंचलिक तथा जासूसी और तिलस्मी उपन्यास आते हैं। आंचलिक उपन्यासों में किसी विशेष जनपद या भूखण्ड के निवासियों एवं उनकी समस्याओं तथा रस्म-रिवाज का वर्णन होता है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' और नागार्जुन के आंचलिक उपन्यास प्रसिद्ध हैं। जासूसी उपन्यास का सम्बन्ध विस्मयजनक घटनाओं और अपराधों के वर्णन से होता है।

●

कहानी या आख्यायिका

हिन्दी में कहानी के लिए कथा, आख्यायिका, गल्प और कहानी शब्द प्रचलित हैं, पर इनमें कहानी का ही अधिक प्रचलन है। कहानी साहित्य की अति प्राचीन विधा है, वह उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानव-सृष्टि। मनुष्य ने सभ्यता के विकास के साथ कहानी कहना और सुनना प्रारम्भ कर दिया था। प्रारम्भ की कहानियाँ नानी की कहानी कही जाती थीं, जिनका सम्बन्ध राजा-रानी की कथा या परीलोक अथवा भूत-प्रेतों से था। पर, जैसे-जैसे मानव-सभ्यता का विकास हुआ वैसे-वैसे कहानी के स्वरूप और विधान में अन्तर आता गया। आधुनिक युग में वैज्ञानिक विकास होने के कारण अतिमानवीय घटनाओं—जैसे भूत-प्रेत, परी आदि की कथा—के प्रति विश्वास उठ गया और कहानी में वैज्ञानिकता का समावेश हुआ। आज की कहानी में कथा का तत्त्व कम और चरित्र-चित्रण एवं मनोविज्ञान को अधिक महत्त्व मिला है। प्राचीन कहानी बाहर की कहानी थी, आज की कहानी अन्तर की कथा है।

कहानी का स्वरूप—आधुनिक कहानी का जो स्वरूप है, वह बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की देन है। इसका जो अद्यतन रूप है, उसका विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ है। कहानी सुनने में जितनी ही रोचक होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन है। प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार एच० जी० वेल्स के अनुसार कहानी ऐसी कथा है जो बीस मिंटों में समाप्त हो।

"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes be a short story."

प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक एडलर एलन पो के मतानुसार कहानी उस कथा को कहते हैं जो एक ही बैठक में समाप्त हो सके और उसके पढ़ने में आधे घण्टे से लेकर दो घण्टे का समय लगे। उपर्युक्त लेखकों के विचार से लघुता कहानी का आवश्यक तत्त्व या अंग है। लघुकथा वर्णनात्मक शैली में लिखी जाती है। गद्य में निबन्ध भी लिखे जाते हैं, पर उनमें विवेचन का प्राधान्य होता है अर्थात् निबन्ध की शैली विवेचनात्मक होती है, उसमें कथात्मकता का अभाव होता है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।" बाबू गुलाबराय "छोटी कहानी एक स्वतःपूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित

घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो।'' प्रेमचन्द जी के मत से ''अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।'' ''सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।''

कहानी लघु आकार की वह गद्य-रचना है जिसमें जीवन के एक अङ्ग-विशेष को कम पात्रों अथवा चरित्रों के द्वारा कम-से-कम घटनाओं में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सके।

कहानी में जीवन के किसी अङ्ग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित किया जाता है, जो अपने में पूर्ण होता है और इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसके पात्र, कथानक तथा शैली सभी का सहयोग होता है। इस प्रकार कहानी की तीन विशिष्टताएँ दिखायी पड़ती हैं--आकार की लघुता, संवेदना की एकता और प्रभावान्विति। कहानी का प्रारम्भ और अन्त नाटकीय तथा प्रभावपूर्ण होना चाहिए तथा उसमें मनोरंजनात्मक शैली के साथ कल्पना का सम्यक् योग रहे।

कहानी और उपन्यास—कहानी और उपन्यास में कई दृष्टियों से समानता होने पर भी दोनों के आकार और शिल्प में यथेष्ट अन्तर है; यद्यपि दोनों ही गद्य में लिखे जाते हैं और इनमें कथा-वर्णन की शैली का प्रयोग होता है। इनमें न केवल आकार में अन्तर है, अपितु इनके उद्देश्य तथा प्रतिपादन-शैली में भी भेद है। किसी बड़े उपन्यास के आकार को छोटा कर दिया जाय तो कहानी नहीं बन सकती। अतः उपन्यास के किसी खण्ड को भी कहानी नहीं कहा जा सकता, दोनों में मौलिक भेद होता है।

उपन्यास में जीवन की समग्रता होती है अर्थात् उसमें मानव जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र उपस्थित किया जाता है, पर कहानी में जीवन के एक पक्ष की झलक होती है। उपन्यास में जीवन का पूर्णवृत्त रहता है और कहानी में उसका सूक्ष्म अंश निहित रहता है। उपन्यास में अनेक प्रकार के पात्र, अनेक प्रकार की घटनाएँ एवं अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ रहती हैं, पर कहानी में पात्र कम होते हैं और उसमें जीवन की किसी एक स्थिति का चित्रण होता है। उपन्यास की कथावस्तु जटिल होती है, पर कहानी में जीवन के एक ही मार्मिक पक्ष का उद्घाटन करने वाली अल्प घटना या कथा का समावेश किया जाता है। उपन्यास में चित्रण का वैविध्य होता है तो कहानी में कहानीकार की दृष्टि किसी एक लक्ष्य की ओर संलग्न रहती है। उपन्यास में भावों का विस्तार होता है तो कहानी में भावों की तीव्रता रहती है। उपन्यास में जीवन की व्याख्या होती है तो कहानी में जीवन की अनुगुंज सुनायी पड़ती है। उपन्यास में घटनाओं की श्रृङ्खला होती है और एक ही साथ समानान्तर रूप से कई कथाएँ चलती हैं,

पर कहानी में ऐसा नहीं होता, उसमें घटनाएँ न होकर एक सुसंगठित कथा रहती है। उपन्यास में उपन्यासकार अनेक घटनाओं और अनेक चरित्रों के माध्यम से जीवन की किसी समस्या का समाधान अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत करता हुआ समय का काफी रूप ग्रहण करता है, पर कहानी के चरित्र और घटना वैविध्य की ओर न जाकर जीवन के किसी एक लक्ष्य की ओर केन्द्रस्थ होते हैं। कहानी की सफलता उसके कथन के ढंग में है और लघुता में ही उसका गौरव निहित है। उपन्यास का लक्ष्य विषय का वैविध्य है तो कहानी में विषय का एकत्व उसका प्रतिपाद्य होता है। कहानी एकोन्मुख होकर हमारे चित्त को झंकृत कर देती है तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झाँकी प्रस्तुत कर हमारी जिज्ञासा की शान्ति करता है। उपन्यास में चरित्र के उतार-चढ़ाव और तत्सम्बन्धी विविध भंगिमाओं और वातावरण के विस्तार को प्रदर्शित किया जाता है, पर कहानी में चरित्र का विस्तार नहीं होता और न वर्णन की प्रधानता होती है। पात्रों का बाहुल्य उपन्यास में ही संभव होता है, कहानी में नहीं। कहानी में चरित्र के विकास की पूरी गुंजाइश नहीं होती, उसमें चरित्र की एक झलक-मात्र मिलती है। कहानी संक्षिप्तता के कारण व्यंजना-प्रधान और प्रभावपूर्ण होती है, पर उपन्यास में बिखराव अधिक रहता है।

कहानी के तत्त्व—कथा-साहित्य के अन्तर्गत आने के कारण कहानी के भी ६ तत्त्व हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण (देशकाल), उद्देश्य और शैली।

(१) **कथावस्तु**—कहानी में कथा का आकार संक्षिप्त होता है और इसमें जीवन के किसी एक अङ्ग की व्याख्या होती है। इसके कथानक में विस्तार नहीं होता और न प्रासंगिक घटनाओं का समावेश होता है। घटनाओं के अनावश्यक विस्तार की ओर ध्यान न देकर कहानीकार कथा के ऐसे पक्ष का उद्‌घाटन करता है, जो श्रोता या पाठक के मन में उत्सुकता जगाये। उत्तम कहानी वह होती है जो चरम विकास पर पहुँच कर समाप्त हो जाय और पाठकों को अपनी ओर से सोचने का अवकाश मिले। कहानी की कथा में प्रारम्भ से ही पाठक की उत्सुकता रहती है और वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यदि कहानी की समाप्ति अकस्मात् हो जाय तो वह उत्तम कहानी समझी जाती है। उसका प्रारम्भ और अन्त नाटकीय ढंग से होना चाहिए। कहानी का विषय कुछ भी हो सकता है। उसका सम्बन्ध जीवन के किसी पक्ष से, इतिहास, पुराण, साहित्य, पत्र-पत्रिका तथा दैनिक घटनाओं से होता है। कहानी में यदि कई घटनाएँ हों, तो उनमें एकता और अन्विति का रहना आवश्यक है। कहानी का आरम्भ किसी प्रकार के संघर्ष से होकर क्रमशः विकसित होकर चरम सीमा पर

पहुँच जाता है और वहाँ कौतूहल का नाटकीय और चमत्कारिक ढंग से अन्त होता है। इसमें घटना और पात्र परस्पर मिले रहें और कथानक निर्जीव न होकर आकर्षक और सजीव हो।

(२) **चरित्र-चित्रण**—आधुनिक कहानी में कथा-तत्त्व को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना कि चरित्र-चित्रण को। कहानी में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में उनका निर्वाह करना संभव नहीं होता। इसमें पात्रों के जीवन का सम्पूर्ण अंश चित्रित नहीं होता और न चरित्र के पूर्ण विकास का अवसर ही प्राप्त होता है। इसमें व्यक्ति के चरित्र के ऐसे अंश को ग्रहण किया जाता है, जिससे उसका व्यक्तित्व चमक उठे। कहानी के पात्रों को सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण होना आवश्यक है। इसमें चरित्र के विकास का अवसर नहीं होता, बने-बनाये चरित्र का वर्णन होता है। इसमें चरित्र में क्रमशः परिवर्त्तन न होकर एक साथ होता है तथा चरित्र का केवल उद्‌घाटन होता है, विकास नहीं। कहानी में मानव-चरित्र के केवल आकर्षक अंश पर ही लेखक की दृष्टि जाती है और वह उसके रोचक अंश का वर्णन कर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ होता है।

कहानी में चरित्र-चित्रण की दो विधियाँ अपनायी जाती हैं—विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष ढंग से अथवा परोक्ष या नाटकीय ढंग से। प्रथम में लेखक अपनी ओर से चरित्र के विषय में कहता है और द्वितीय में वार्त्तालाप के द्वारा पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन होता है। या तो स्वयं पात्र अपने विषय में कुछ कहता है या अन्य पात्र उसके सम्बन्ध में कहकर उसके चरित्र का विश्लेषण करते हैं।

(३) **कथोपकथन**—वार्त्तालाप या कथोपकथन के द्वारा पात्रों के आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति होती है। कहानी में कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश ही नहीं पड़ता, वरन् कथा का भी विकास होता है और वर्णन में रोचकता तथा प्रवाह आता है। कहानी का कथोपकथन सजीव, प्रसङ्गानुकूल, संक्षिप्त, सङ्गत, चमत्कारपूर्ण तथा परिस्थिति के अनुरूप होना चाहिए। इसमें पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हो तथा उसमें हास्य और व्यंग्य का भी पुट रहे।

(४) **देशकाल या वातावरण**—कहानी में उपन्यास की तरह वातावरण के विस्तारपूर्वक चित्रण का अवसर नहीं रहता। पर, इसमें वातावरण का महत्त्व होता है। प्रत्येक कहानी में एक विशिष्ट प्रकार का जीवन विशेष परिवेश में अङ्कित होता है। आंचलिक कहानी में तो स्थानीय वातावरण के चित्रण का ही महत्त्व होता है और ऐतिहासिक कहानी में तो तत्कालीन वातावरण का

चित्रण आवश्यक हो जाता है। कहानी तभी सजीव और आकर्षक होती है जब कि उसमें वातावरण का स्वाभाविक रूप प्रदर्शित किया जाय। देशकाल को स्पष्ट करने और परिस्थिति से परिचय प्राप्त करने के लिए कहानी में वातावरण के चित्रण की आवश्यकता होती है, जो भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। पात्रों के क्रिया-कलाप, प्राकृतिक परिवेश, चरित्रों का व्यवहार एवं वार्त्तालाप आदि के द्वारा वातावरण का निर्माण होता है। वातावरण पर कहानी के विषय तथा उद्देश्य का भी प्रभाव पड़ता है।

(५) **उद्देश्य**—कहानी केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं लिखी जाती, वरन् उसका कुछ निश्चित उद्देश्य या प्रयोजन भी होता है। पर, यह उद्देश्य प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होता है अर्थात् कहानीकार कथा या पात्र अथवा परिस्थिति या वातावरण के द्वारा अपने जीवन-दर्शन को प्रकट करता है। कहानी कभी या तो सामाजिक या नैतिक प्रतिमानों के समर्थन के लिए भी लिखी जाती है। कहानी के उद्देश्य और विषय दोनों ही निश्चित होते हैं, पर कभी-कभी लेखक केवल कलात्मक उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही कहानी का प्रणयन करता है। कहानी के उद्देश्य के माध्यम से लेखक के जीवन-विषयक उद्देश्य का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में लखनऊ के रईस लोगों की बेफिक्री पर व्यंग्य कर पाठकों को ऐसे दोषों से अपने को दूर रखने की शिक्षा दी गयी है।

(६) **शैली**—शैली कहानी का वह तत्त्व है जिसका संबंध उसके सभी अंगों से है। शैली के माध्यम से ही कथाकार अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाता है या उसे प्रेषणीय बनाता है। प्रत्येक लेखक की शैली भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कोई मुहावरेदार भाषा का प्रयोग कर शैली को सरल बनाता है तो कोई शब्द-सौष्ठव से पूर्ण और भावाभिव्यंजक शैली का अवलंब ग्रहण कर उसे गंभीर बना देता है। शैली की सुन्दरता उसकी सरलता में है। साधारण जीवन को व्यक्त करने वाली कहानी की शैली बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। ऐसी भाषा में लोच होती है और वह गतिशील बन जाती है। कहानी में जिस वर्ग का वर्णन होता है उस वर्ग-विशेष की प्रचलित भाषा, मुहावरा एवं कहावतों के प्रयोग से शैली प्रभावोत्पादक बन जाती है। कहानी में हास्य, व्यंग्य, विनोद का पुट रहना आवश्यक है और इसकी भाषा पात्रों की प्रकृति और वातावरण या परिवेश के अनुकूल हो। यथासंभव कहानी की शैली अनलंकृत, सहज और चुटीली हो तथा उसे बोझिल बनाने का प्रयास न किया जाय। ऐतिहासिक या भावना-प्रधान कहानियों की शैली में गंभीरता का होना

आवश्यक है। कहानी का विषय कितना भी गंभीर या सुन्दर क्यों न हो यदि उसकी शैली प्रभावपूर्ण नहीं हुई अर्थात् उसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया तो वह आकर्षक नहीं हो सकती। भाषा, भाव तथा कल्पना के सम्यक् प्रयोग के कारण तथा बाह्य प्रकृति के दृश्यों का चित्रण कर लेखक कहानी को मनोरम बनाने में सक्षम होता है।

कहानी का आदि और अन्त—कहानी का आदि और अन्त आकर्षक होना चाहिए। उसका प्रारम्भ इस प्रकार हो कि पाठक का ध्यान शीघ्र आकृष्ट हा जाय। यथासंभव कहानी को बीच से ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। यदि कहानी का प्रारम्भ आकर्षक नहीं हुआ तो पाठक की कौतूहल-वृत्ति जाग्रत न हो सकेगी। उसका प्रारम्भ या तो किसी महत्त्वपूर्ण वार्त्तालाप से या किसी दृश्य के चित्रण अथवा वातावरण के निर्माण या चरित्र के विश्लेषण से होना चाहिए। कहानी का अन्त यदि अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं हुआ तो उसका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उसका अन्त आकस्मिक ढंग से या नाटकीय रूप में हो और लेखक उस विषय में पाठकों को सोचने के लिए मसाला इकट्ठा कर दे। कभी-कभी तो ज्योंही कहानी चरम सीमा पर पहुँचती है कि उसका अन्त हो जाता है और यह अन्त अत्यन्त रोचक होता है।

शीर्षक—कहानी के आदि और अन्त की भाँति उसके शीर्षक का भी महत्त्व है। उसका शीर्षक आकर्षक, लघु और कहानी के विषय को व्यक्त करने वाला होना चाहिए या उसमें कहानी का उद्देश्य निहित हो। कहानी की समस्त संवेदना शीर्षक में ही लगी रहती है।

कहानी कहने के ढंग—कहानी कहने के तीन ढंग मुख्य हैं—वर्णनात्मक या ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक और पत्रात्मक या डायरीनुमा। वर्णनात्मक शैली की कहानी में स्वयं लेखक दर्शक की भाँति विवरणात्मक ढंग से कहानी कहता है। आत्मकथात्मक कहानी में कोई प्रमुख पात्र या कई पात्र अपनी कथा को स्वयं कहते हैं अथवा दूसरों के जीवन में घटित घटना का सुनकर वर्णन करते हैं। कभी-कभी कहानी का विस्तार विविध पात्रों के पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में या डायरी के रूप में होता है।

कहानी के प्रकार—कहानी के कई प्रकार हैं—कथा-प्रधान, घटनाप्रधान कहानी, सामाजिक और राजनीतिक कहानी, चरित्रप्रधान, भावनाप्रधान, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक कहानी। इनमें प्रत्येक कहानी की शैली और उनके प्रस्तुतीकरण में अन्तर होता है।

कथाप्रधान कहानी में वस्तुवर्णन या घटनाओं का प्राधान्य होता है और अन्य तत्त्वों की उपेक्षा की जाती है।

चरित्रप्रधान कहानी में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है और ऐसी कहानियों में घटना या कथा का अंश अल्प होता है। ऐसी कहानियों में चरित्र के विकास या परिवर्त्तन को दिखाया जाता है।

घटनाप्रधान कहानी में दैवयोग से घटने वाली घटनाओं और संयोग का अधिक वर्णन होता है। इसमें लेखक घटनाओं के घात-प्रतिघात पर बल देता है।

वातावरण-प्रधान कहानियों में वातावरण पर जोर देकर कहानी की परिस्थितियों के किसी विशेष अंग का अधिक विस्तार करते हुए मुख्य भावना की प्रधानता दिखायी जाती है। ऐतिहासिक कहानियों की रचना इतिहास की किसी प्रसिद्ध घटना के आधार पर होती है। मनोवैज्ञानिक कहानियों में पात्रों की मनःस्थिति का विश्लेषण किया जाता है। इनके अतिरिक्त भी कहानियों के कई प्रकार हैं, जैसे—हास्य-प्रधान कहानी, प्रकृतिवादी कहानी, यथार्थवादी कहानी, आदर्शवादी कहानी और प्रतीकवादी कहानी आदि।

●

निबन्ध

स्वरूप और परिभाषा—निबन्ध शब्द संस्कृत का है जिसका अर्थ है—ऐसी विधा जिसमें विचार बाँधा या गूँथा जाय। इसमें निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की शृंखला बाँधी जाती है। संस्कृत में प्राय: ऐसे ग्रन्थों को निबन्ध की संज्ञा दी जाती थी, जिनका सम्बन्ध टीका, भाष्य, दर्शन या राजनीतिक ग्रन्थों से था और इनमें भावना की अपेक्षा विचारों को अधिक गुंफित किया जाता था। पर, हिन्दी में निबन्ध शब्द अँगरेजी के एस्से (essay) का समानार्थी है। संस्कृत में निबन्ध शब्द इस अर्थ का वाचक था जिसमें विशेष बन्ध या संगठन हो, पर अँगरेजी में एस्से का अर्थ प्रयत्न या attempt है। यूरोप में निबन्ध का जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक मोतेन माना जाता है। (समय १५७१ ई०)। उसने अपनी रचनाओं को Essais कहा था। अँगरेजी का essay शब्द फ्रेंच Essai से निर्मित है, जिसका अर्थ प्रयास है, (attempt, trial, content) पर अब यह शब्द विशिष्ट गद्य-रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है। निबन्ध में किसी विषय का प्रतिपादन होता है और यह गद्य की ऐसी साहित्यिक विधा के लिए रूढ़ हो गया है जिसे बार-बार पढ़कर आनन्द प्राप्त किया जाय। अँगरेजी में निबन्ध की सर्वप्रथम परिभाषा डॉ० जॉनसन ने दी थी "A loose sally of the mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance." अर्थात् निबन्ध मानसिक जगत् की ऐसी विचार-तरंग है जो असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित हो। पर, आगे चलकर लोगों ने इस परिभाषा को अमान्य सिद्ध कर दिया और इसमें क्रमश: बुद्धितत्त्व का समावेश होता गया और असंबद्धता को निबन्ध का दोष माना जाने लगा। मोतेन की परिभाषा में व्यक्तित्व के प्रकाशन पर बल दिया गया था। जॉनसन के समय तक निबन्ध का सम्यक् विकास नही हुआ था और न उसकी कोई निश्चित रूपरेखा ही निर्मित हुई थी। उसकी परिभाषा संकुचित है और उसमें आज की तरह वैविध्य का अभाव है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"सीमित आकार का एक ऐसा लेख जो किसी एक विषय-विशेष अथवा उसकी किसी शाखा-प्रशाखा पर लिखा गया हो जिससे प्रारम्भ में परिष्कारहीनता का आभास मिलता था और जो एक अनियमित अपरिपक्व खण्ड माना जाता था, किन्तु जिसे अब

न्यूनाधिक विस्तृत शैली में लिखी हुई किन्तु आकार में लघु रचना का बोध होता है।"

"A composition of moderate length or any particular subject or branch of a subject, originally imply want of finish, 'an irregular, indigested piece' but now said of a composition more or less alaborate in style though limited in range."

बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

निबन्ध की विशेषताएँ—

(क) निबन्ध में किसी विषय का प्रतिपादन होता है या उस पर विचार किया जाता है, जिस पर लेखक के स्वतन्त्र विचार की छाया होती है।

(ख) निबन्ध के विषय की कोई सीमा नहीं है। वह अनन्त है तथा विश्व की किसी भी वस्तु या तथ्य को निबन्ध का विषय बनाया जा सकता है। संसार की जितनी वस्तुएँ, भाव और क्रियाएँ हैं, उन पर निबन्ध लिखा जा सकता है। वह गंभीर-से-गंभीर और हल्का-से-हल्का हो सकता है।

(ग) निबन्ध सर्जनात्मक साहित्य-रूप है, जिसमें भावना की प्रधानता होनी चाहिए, बुद्धि की नहीं। इसमें लेखक अपने स्वतंत्र विचारों को सहज रूप से व्यक्त करता है।

(घ) निबन्ध में लेखक का निजीपन झलकता है अर्थात् उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का आशय यह है कि निबन्ध में लेखक के निजी अनुभव और उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति हो। यदि लेखक हँसोड़ हो तो निबन्ध में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता रहे, पर गंभीर स्वभाव होने पर निबन्ध में गंभीरता व्यक्त होनी चाहिए।

(ङ) निबन्ध यथासंभव आकार में लघु और संक्षिप्त हो। इसमें अनेक प्रकार के तथ्यों का संग्रह किया जाय, किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं। इसकी शैली चित्रात्मक होनी चाहिए, विवरणात्मक नहीं।

(च) निर्वैयक्तिक निबन्धों के विषय गंभीर भी हो सकते हैं, पर व्यक्तित्व-प्रधान लेखों का विषय सामान्य या साधारण होता है। जैसे—खली, खजूर का पेड़, सोपकेश आदि।

(छ) निबन्ध में लेखक के दृष्टिकोण, उसकी मनःस्थिति एवं प्रतिक्रियाओं का निरूपण होना चाहिए और उसकी शैली में स्फूर्ति एवं चमत्कार हो। यह ऐसी कलाकृति है, जिसमें निर्माणसौष्ठव, रोचकता, कलात्मक प्रेषणीयता एवं लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है।

(ज) निबन्ध की भाषा सहज, सुबोध, परिष्कृत तथा लाक्षणिकता से युक्त हो तथा उसमें परिस्थिति और विषय को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता हो और पर्याप्त चढ़ाव-उतार के अतिरिक्त मनोभावों के अनुरूप उसमें परिवर्त्तन होता रहे। निबन्ध लेखक के कलात्मक आत्म-प्रकाशन का साधन है।

(झ) निबंध-लेखन का कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है, भले ही वह दार्शनिक, गंभीर, साहित्यिक या वैयक्तिक हो। उसका मुख्य उद्देश्य है लेखक की सर्जनात्मक प्रवृत्ति की तुष्टि एवं क्रियात्मक इच्छा की पूर्त्ति। निबन्ध के माध्यम से लेखक अपने ज्ञान तथा अनुभव को भी प्रेषणीय बनाता है और इस प्रकार उसका मनःप्रसादन होता है। गंभीर विषयों पर लिखित निबन्धों में लेखक का चिंतन झलकता है और उसके अध्ययन तथा पठन की विवृत्ति होती है, पर उसमें भी उसके दृष्टिकोण का महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए आ० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों को लिया जा सकता है जिनमें मनोवैज्ञानिक विषयों को निजी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। वैयक्तिक निबन्धों का प्रधान आकर्षण उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। लेखक अपने व्यक्तित्व के रोचक पक्ष का प्रकाशन कर पाठक और अपने बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है। निबन्ध का उद्देश्य साहित्य के सामान्य उद्देश्य से भिन्न नहीं है।

निबन्ध के भेद—निबन्ध को चार भागों में विभक्त किया जाता है—वर्णनात्मक (Descriptive), विवरणात्मक (Narrative), विचारात्मक (Reflective) तथा भावात्मक (Emotional)। राहुल जी के यात्रा-सम्बन्धी निबन्ध वर्णनात्मक हैं या महादेवी की 'बदरीधाम की यात्रा'।

(१) वर्णनात्मक निबन्धों में कल्पना का प्राधान्य होता है तथा उसमें वर्णन स्थूल हुआ करते हैं और भाषा में सरलता एवं अर्थवत्ता होती है। इसके अन्तर्गत अधिकतर देश, स्थान या किसी भौगोलिक स्थान का वर्णन होता है और वह वर्णन आँखों देखा हुआ-सा होता है। इसमें किसी विषय का सजीव चित्र उपस्थित किया जाता है।

(२) विचारात्मक निबन्धों में किसी विचार का प्रतिपादन किया जाता है और इनमें बौद्धिकता को प्रधानता होती है। चूँकि इनमें मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, अतः तर्क का सहारा लेकर विचार प्रकट किये जाते हैं। इन निबन्धों के

विषय गम्भीर एवं प्रयोजनीय होते हैं। इसको अधिक सरल बनाने के लिए व्यास (विस्तृत) और समास (संक्षिप्त) दोनों ही शैलियों का प्रयोग होता है। विचारात्मक निबन्धों में जहाँ हृदय और मस्तिष्क अर्थात् भावना और बुद्धि दोनों का समान योग होता है, वे शुद्ध साहित्यिक निबन्ध कहे जाते हैं। इनमें विषय की अनेकरूपता होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के निबंध इसी कोटि में आते हैं।

(३) **विवरणात्मक निबन्ध**— इस कोटि के निबन्धों में विशेष विषय का वर्णन किया जाता है। इन्हें कथात्मक अथवा आख्यानात्मक भी कहा जाता है। विवरणात्मक निबन्धों का सम्बन्ध मुख्य रूप से समय या काल से होता है तथा इसमें वस्तु या विषय को गतिशील रूप से देखा जाता है। विवरणात्मक निबन्धों में किसी विषय का इस प्रकार निरूपण होता है जिससे कि पाठकों के मन पर चलचित्र की भाँति उसका रूप अंकित हो जाय। इसके अंतर्गत जीवनी, कथायें, घटनायें, पुरातत्त्व-अन्वेषण, आखेट तथा इतिहास आदि का वर्णन होता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'चर्चा', एक पुरानी कथा तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'साहित्य-सदन की यात्रा' तथा बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र आदि इसी कोटि में आयेंगे।

(४) **भावात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्ध में भावावेश या आत्मप्रलाप की प्रधानता होती है। ये निबन्ध गद्यगीत के अधिक निकट हैं। भावात्मक निबन्ध कवित्वपूर्ण शैली में लिखे जाते हैं और इनमें भावों तथा रसों की अभिव्यक्ति होती है। हिन्दी में बाबू रायकृष्णदास ने ऐसे निबन्ध लिखे हैं जो उनकी पुस्तक 'साधना' में संगृहीत हैं। इस कोटि के अन्य निबन्धकार हैं श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री वियोगी हरि तथा दिनेशनन्दिनी जी।

वैयक्तिक या व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध (Personal essay)—निबन्ध का वास्तविक रूप या इसका चरम विकास वैयक्तिक निबन्धों में देखा जाता है। अँगरेजी में तो निबन्ध शब्द मुख्यतः परसनल निबन्धों के लिए ही रूढ़ हो गया है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक को आत्म-प्रकाशन की विशेष सुविधा होती है और वह संसार के किसी भी विषय को लेकर उस पर अपने व्यक्तित्व का रंग चढ़ाकर उसका वर्णन करता है। इसमें विषय का स्वयं महत्त्व नहीं होता, लेखक के निजी अनुभव एवं विचारों की महत्ता होती है। जैसे; हिन्दी में श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का निबन्ध 'ओ मेरे चप्पल'। वैयक्तिक निबन्ध में लेखक का स्वाभाविक और निश्छल व्यक्तित्व प्रकाशित होता है और वह अपने आकर्षक व्यक्तित्व के कारण पाठक का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इसमें लेखक उन्मुक्त रूप से अपने विचारों तथा भावों का प्रकाशन करता है।

वैयक्तिक निबन्धों में विषय का प्रस्तुतीकरण आन्तरिक तथा स्वाभाविक होता है। लेखक मनमौजी होकर क्रमहीन ढंग से विषय का प्रतिपादन करता है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उनमें कोई क्रम दिखाई नहीं पड़ता, पर अप्रत्यद्ध रूप से लेखक के विचारों और भावों में क्रमबद्धता होती है और वे परस्पर बँधे रहते हैं। वैयक्तिक निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व ही उसका केन्द्रबिन्दु बनकर स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त होता है। इसमें विषय की प्रधानता न होकर लेखक के निजी अनुभव की प्रमुखता रहती है। इसे गद्य का मुक्तक काव्य कह सकते हैं। इस प्रकार के निबन्ध की रचना लेखक निस्सङ्ग या निर्लिप्त होकर बिना किसी आग्रह के ही करता है, जिसमें पग-पग पर उसकी प्रतिभा एवं मनस्विता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के निबन्ध-लेखन में विशेष कौशल और विशेष कला की अपेक्षा होती है। हिन्दी में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'अशोक के फूल', सियारामशरण गुप्त का 'झूठसच', बाबू गुलाबराय के 'मेरे निबन्ध', 'मेरी असफलताएँ', विद्यानिवास मिश्र के 'चितवन की छाँव' के निबन्ध तथा प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी कृत 'खजूर के पेड़' के निबन्ध प्रसिद्ध हैं। निबन्धों के अन्य प्रकार में 'आलोचनात्मक निबन्ध' भी आता है जिसमें साहित्यिक विषयों की समीक्षा की जाती है। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, आ० नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० रामविलाश शर्मा एवं श्री 'अज्ञेय' ने ऐसे निबन्धों का प्रणयन किया है।

आलोचना

अर्थ और परिभाषा—आलोचना या समालोचना साहित्य की उस कोटि में आती है जिसमें साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाय और उस मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर किसी साहित्यिक कृति अथवा साहित्यकार का मूल्यांकन, उसका परीक्षण और उसके गुण-दोष का विवेचन हो। इस प्रकार समालोचना के दो कार्य हुए—साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और उसके आधार पर साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन, स्पष्टीकरण एवं उनमें निहित मान्यताओं एवं कलात्मक विचारों का विवेचन।

समालोचना शब्द का अर्थ है। सम्यक् रूप से या अच्छी तरह से देखना। यह सम् + लुच + टाप् के योग से बना है। जो किसी साहित्यिक कृति का भलीभांति निरीक्षण कर उसका परीक्षण, विश्लेषण और विवेचन करे उसे समालोचना या आलोचना कहते हैं। इसके लिए समीक्षा शब्द भी प्रयुक्त होता है, पर समीक्षा का व्यवहार अब अँगरेजी शब्द रिव्यू (Review के लिए ही रूढ़ होता जा रहा है। समीक्षा के अन्तर्गत पुस्तकों के गुण-दोष का विवेचन या उनका मूल्यांकन किया जाता है। पर, आलोचना या समालोचना शब्द विस्तृत अर्थ के द्योतक हैं जो अँगरेजी के क्रिटिसिज़्म (Criticism) शब्द के समानार्थी हैं।

समालोचना का कार्य है किसी कृति के गुण-दोष का निदर्शन, दोष-दर्शन, गुण-कथन, मूल्यांकन, मूल्यनिर्धारण, स्पष्टीकरण एवं सहानुभूति-प्रदर्शन (Appreciation) तथा उसका सौन्दर्योद्घाटन। साहित्य जीवन की व्याख्या है और आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है या वह साहित्य में निहित जीवन या जीवन-पद्धति का उद्घाटन कर उसका मूल्यनिर्धारण करती है। आलोचना या समालोचना में विवेकपूर्ण दृष्टि से काव्य के गुण-दोषों का विवेचन, व्याख्यान या स्पष्टीकरण होता है।

आलोचक के गुण—आलोचक उसे कहते हैं जो संवेदनशील सहृदय की भाँति अथवा विषय का अधिकारी होकर किसी विषय के सौन्दर्यपक्ष पर अपने ध्यान को केन्द्रस्थ कर उसके कलात्मक वैभव या सौन्दर्य का उद्घाटन करे। इसी कार्य का नाम मूल्य-निर्धारण भी है। प्रो० आई० ए० रिचार्ड के अनुसार आलोचक का कार्य मूल्यों का निर्णायक होना है। " to set up as a critic

is set up as a judge of value." आलोचक कलाकार या साहित्यकार के अनुभव को, जो उनमें जन्म ले चुका है उसे पुनर्जीवित करता है। आलोचक को विषय का सम्यक् ज्ञान तो होना ही चाहिए, साथ ही उसे संवेदनशील हृदय वाला भी होना आवश्यक है। वह पाठक तथा साहित्य के बीच माध्यम या दुभाषिये का कार्य करता है अर्थात् किसी कृति में अन्तर्निहित भावों, विचारों और उसके कलात्मक वैभव का सम्यक् विश्लेषण कर पाठकों के समक्ष रख देता है। आलोचक का कार्य किसी कृति-विशेष का मूल्याङ्कन करना ही नहीं है, वरन् वह साहित्य की दिशा का निर्देश भी करता है। वह साहित्य-जगत् में फैली हुई अनियमितताओं और विषमताओं की आलोचना कर, उसे परिष्कृत एवं शुद्ध बनाता है। साहित्य-मीमांसक या आलोचक रचनाकार की भाँति स्वतन्त्र नहीं होता, वह किसी कृति का निरीक्षण, परीक्षण एवं विवेचन कर अपना निष्पक्ष मत प्रकाशित करता है। वह साहित्यकार द्वारा अभिव्यक्त जीवनादर्श की यथार्थ व्याख्या कर उसके गुण-दोषों का निर्देश करता है और उक्त साहित्यकार के वास्तविक मूल्य की प्रतिष्ठा करता है। साहित्य के स्वरूप को बोधगम्य बनाना तथा उसके मानदण्ड का निर्धारण करना और सामान्य साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की अवतारणा कर उसके आधार पर साहित्य की व्याख्या करना तथा साहित्य-कारों या साहित्य-समाज में फैली हुई बुराइयों को दूर कर साहित्यकारों पर नियन्त्रण रखना—ये सभी कार्य समालोचक के हैं। सच्चा समालोचक व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे होकर नीरक्षीरविवेकी बनता है।

समालोचक को मनस्वी, चिन्तनशील, अध्ययनशील, प्रतिभाशाली और बहुज्ञ होना चाहिए। उसे साहित्य की परम्परा से पूर्ण परिचय हो तथा उसके सभी अङ्गों पर साधिकार प्रामाणिक निर्णय देने की क्षमता हो। यद्यपि आलो-चना का सम्बन्ध बुद्धि से है अर्थात् वह बुद्धि का व्यापार है, पर समालोचक सहृदय, भावुक तथा सरस हृदय वाला होना चाहिए। सरसता के साथ सहृदयता का होना आलोचक के प्रधान गुणों में आता है। सहृदय व्यक्ति ही रचना के सौन्दर्य का सहानुभूतिपूर्ण ढङ्ग से उद्घाटन कर सकता है। साहित्य के गूढ़ तत्त्व की व्याख्या कर उसके सौन्दर्य को पाठकों के सम्मुख रखना तथा रचयिता का पथ-निर्देश कर साहित्य-सृजन को उचित दिशा की ओर मोड़ना और साहित्य-जगत् की उच्छृङ्खलता को रोककर उसे समुचित मार्ग पर लगाना सच्चे आलोचक का कर्त्तव्य है। वह साहित्य के शाश्वत और सार्वभौम नियमों का निर्धारण कर साहित्यकार को यह बताये कि किस प्रकार उसकी रचना में सार्व-देशिक, सार्वकालिक और अमरत्व के गुणों का समावेश हो सकता है। इस प्रकार साहित्यकार से भी अधिक आलोचक का महत्त्व होता है और उसके ऊपर

समाज का बहुत बड़ा दायित्व रहता है। थोड़ी भी असावधानी के कारण आलोचक समाज तथा साहित्य का बहुत बड़ा अनिष्ट कर सकता है। आलोचक में सत्यप्रियता और ईमानदारी उसके प्रधान गुणों में हैं तथा उसे निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रहरहित होना चाहिए। विचारों की गंभीरता और अभिव्यक्ति की स्वच्छता के अतिरिक्त भाषा पर उसका असाधारण अधिकार हो और उसे लोकव्यवहार में कुशल होना चाहिए।

आलोचना के भेद—समालोचना के मुख्य दो भेद हैं—सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative criticism) और व्यावहारिक आलोचना (Applied criticism)।

(१) **सैद्धान्तिक आलोचना**—जिस आलोचना में साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों या मान्यताओं का विवेचन हो, उसे सैद्धान्तिक आलोचना कहते हैं। इसमें साहित्य के विविध अङ्गों के मानदण्ड का निर्माण होता है और उसके आधार पर किसी साहित्यिक कृति की समीक्षा की जाती है या उसका मूल्याङ्कन किया जाता है। इसमें पूर्वनिर्धारित नियमों के आधार पर साहित्य का विवेचन होता है। इसके विवेच्य विषय हैं—साहित्य या काव्य के स्वरूप का निर्धारण, उनके आदर्शरूप का स्थिरीकरण एवं गुण-दोषों का स्पष्टीकरण, साहित्य या काव्य के उद्देश्य, कविता के स्वरूप एवं उनके भेदों का विवरण प्रस्तुत कर उनका स्वरूप-निर्धारण तथा उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि साहित्य के विभिन्न अङ्गों का तात्त्विक विवेचन। उदाहरण के लिए काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कहानीकला, उपन्यासकला, निबन्धकला आदि पुस्तकें सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत आती हैं।

सैद्धान्तिक समीक्षा या आलोचना का उद्देश्य न केवल साहित्यिक मानों या प्रतिमानों का निर्धारण है, बल्कि यह सत्साहित्य के विशिष्ट मार्ग का निर्देशन भी करती है। इसके अन्तर्गत इस तथ्य का भी विवेचन होता है कि किन-किन उपादानों के समावेश से कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में सौन्दर्याधान होता है और वे कौन से तत्त्व हैं, जिनके कारण साहित्य के सभी रूपों का आदर्श स्वरूप प्रतिष्ठित हो सकता है या वे उच्चकोटि की रचनाएँ सिद्ध हो सकती हैं।

पर, सैद्धान्तिक समीक्षा की एक निश्चित सीमा भी होती है। यदि यह पग-पग पर नियमों की शृङ्खला में साहित्यिक की प्रतिभा को नियन्त्रित करने का प्रयास करे तो ऐसा सिद्धान्त काव्योत्कर्ष के मार्ग में बाधक सिद्ध होगा और साहित्य रूढ़िग्रस्त होकर अविकसित रह जाएगा अर्थात् साहित्य के विकास की गति अवरुद्ध हो जायगी। अतः, आलोचक को चाहिए कि वह सर्जनात्मक साहित्य या आलोच्य ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन कर उनके आधार पर काव्यो-

त्कर्ष एवं सौन्दर्याभिव्यक्ति के मार्गों का निर्माण करे और साहित्य का ऐसा निष्कर्ष प्रस्तुत करे जो सार्वभौम और उपादेय हो और उसके आधार पर सत्-साहित्य का प्रणयन होता रहे।

पर, युग के अनुरूप और समय के परिवेश में सैद्धान्तिक आलोचना के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता रहता है, क्योंकि प्रत्येक युग में जीवन के मूल्य बदलते रहते हैं, अतः आलोचक का कर्त्तव्य है कि युगीन आवश्यकताओं के अनुसार वह काव्यादर्श का निर्माण करे। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत भरत कृत 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालङ्कार', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' आदि ग्रन्थ आते हैं।

(२) **व्यावहारिक आलोचना** – इसमें साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर किसी कृति या विशिष्ट रचना या किसी साहित्यकार का मूल्याङ्कन किया जाता है या उनके गुण-दोषों की व्याख्या की जाती है। किसी भी साहित्य में पहले व्यावहारिक आलोचना का जन्म होता है, तत्पश्चात् सैद्धान्तिक आलोचना निर्मित होती है। इसमें आलोचक किसी कृति-विशेष के लिए निश्चित मानदण्ड का निर्माण कर उसकी व्याख्या करता है तथा उसके सौन्दर्य और उसमें निहित रचयिता के जीवनादर्शों का विवेचन कर पाठक के समक्ष उक्त कृति का महत्त्व प्रस्तुत करता है।

व्यावहारिक समीक्षा के अन्य प्रकारों में निर्णयात्मक समीक्षा तथा तुलनात्मक समीक्षा आती है। निर्णयात्मक आलोचना में सामीक्ष्य या आलोच्य पुस्तक के गुण-दोषों का विवेचन एवं उसका मूल्यनिर्धारण होता है। आलोचक न्यायाधीश की भाँति किसी कृति या कृतिकार के गुण-दोषों का विवेचन कर साहित्य-जगत् में उनके स्थान का निर्धारण करता है। व्यावहारिक समीक्षा का यह रूप सर्वाधिक सुन्दर माना जाता है। जैसे, आ० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक निर्णयात्मक आलोचना का सुन्दर उदाहरण है जिसमें तुलसी के काव्य-सौन्दर्य और जीवन-दर्शन का मूल्याङ्कन कर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके स्थान का निर्धारण किया गया है।

तुलनात्मक आलोचना—इसमें दो कवियों या पुस्तकों की, जो समान कोटि की हों, परस्पर तुलना की जाती है और अन्त में निर्णय दिया जाता है कि दोनों में कौन बड़ा है। तुलना जब भी होगी तो एक वर्ग के कवियों की या समान कोटि की रचनाओं की। तुलना करते समय आलोचक का ध्यान दो कवियों या दो पुस्तकों में साम्य-वैषम्य दिखाकर तथा उनके गुण-दोषों की समीक्षा कर उनमें से एक को श्रेष्ठ सिद्ध करना होता है। उदाहरण के लिए पं० कृष्णदेव-बिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' पुस्तक में देव एवं बिहारी की तुलनात्मक

समीक्षा कर बिहारी से देव को बड़ा सिद्ध किया गया है। इस प्रकार की आलोचना से कभी-कभी साहित्य या साहित्यकार का बड़ा अहित भी होता है, क्योंकि समालोचक व्यक्तिगत रुचि के आधार पर या किसी कवि के प्रति पक्षपात दिखाकर उसकी तुलना करे तो यह कार्य निन्द्य माना जाएगा। अतः तुलना यथासम्भव निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रह से रहित हो तभी उपयोगी होगी।

आलोचना के अन्य प्रकारों में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा प्रभावाभिव्यंजक आलोचनाएँ भी हैं। ऐतिहासिक समीक्षा में पूर्वनिर्धारित साहित्यिक मानदण्ड का सहारा न लेकर ऐतिहासिक तथ्यों को महत्त्व दिया जाता है। इसमें कवि या समीक्षा पुस्तक की आलोचना करते समय तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों को आधार बनाकर उक्त रचना में इन तथ्यों का अन्वेषण किया जाता है और यह निर्णय दिया जाता है कि लेखक या कृति ने युगीन परिस्थिति या परिवेश को कहाँ तक अपनाया है और उन परिस्थितियों की छाप उस पर कहाँ तक पड़ी है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना। आलोचना का यह रूप अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है। इसमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य कृति या कृतिकार की समीक्षा की जाती है। इसमें रचनाकार की अन्तःप्रवृत्तियों की छान-बीन कर उसकी मनःस्थिति का विश्लेषण किया जाता है और उसके अन्तःप्रदेश में प्रविष्ट कर उसकी अन्तश्चेतना का विश्लेषण किया जाता है। इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य मनःशक्तियों की खोज करना है। आलोचना की यह शैली अत्यन्त वैज्ञानिक मानी जाती है। इसमें किसी कृति में प्रतिबिम्बित या निहित कलाकार की अन्तश्चेतना एवं उसकी मनःस्थिति की गवेषणा कर वैज्ञानिक ढङ्ग से निर्णय दिये जाते हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना इस तथ्य का पोषक है कि साहित्य या कला कवि की अवदमित अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति है, अतः कवि या कलाकार की कृति को समझने के लिए उसके अन्तर्मन का विश्लेषण आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य सामाजिक कर्म न होकर वैयक्तिक व्यापार है।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना—आलोचना की इस पद्धति को उत्तम नहीं माना जाता; क्योंकि इसमें आलोचक की व्यक्तिगत रुचि को महत्त्व दिया जाता है। इसमें आलोचक के हृदय में आलोच्य के प्रति उत्पन्न प्रतिक्रिया का वर्णन होता है तथा किसी कृति के गुणावगुणों का सम्यक् विश्लेषण न कर उसके सम्बन्ध में आलोचक के प्रभावों की अभिव्यक्ति होती है। इसमें आलोचक कृति के कलात्मक पक्ष का उद्घाटन करते हुए उसके प्रभावों का वर्णन करता है। विद्वानों ने आलोचना के इस रूप को हेय मानकर इसकी भर्त्सना की है।

●

द्वितीय खण्ड

काव्यशास्त्र

शब्द-शक्ति

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बतलाने वाले साधन का नाम शब्द-शक्ति है। इसे शब्द-व्यापार या शब्दवृत्ति या केवल वृत्ति भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत शब्द तथा अर्थ के शाश्वत सम्बन्ध का विवेचन होता है अर्थात् यह बतलाया जाता है कि शब्द और अर्थ कितने प्रकार के हैं और उनमें क्या सम्बन्ध है। अभिप्राय यह कि शब्द में निहित अर्थ-सम्पत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व ही शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति है। इसके बिना अर्थ का ज्ञान हो नहीं सकता। शब्द कारण है और अर्थ कार्य तथा शब्द-शक्तियाँ साधन हैं।

शब्द-शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना और इनसे क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ और ये अर्थ तीन प्रकार के शब्दों से उत्पन्न होते हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। वाचक शब्द से वाच्यार्थ का ज्ञान अभिधा-शक्ति द्वारा होता है और लक्षक शब्द से लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार व्यंजक शब्द से व्यंग्यार्थ का बोध व्यंजना-शक्ति द्वारा होता है।

शब्द	—	अर्थ	—	शक्ति
वाचक	—	वाच्यार्थ	—	अभिधा
लक्षक	—	लक्ष्यार्थ	—	लक्षणा
व्यंजक	—	व्यंग्यार्थ	—	व्यंजना

एक चौथी शक्ति तात्पर्य भी होती है, जो शब्द की शक्ति न होकर वाक्य की शक्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक अर्थ को बतलाने वाली शब्द की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं। इसलिए शक्ति को 'शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः' कहा गया है, अतः जिस शक्ति या व्यापार द्वारा अर्थावबोध (अर्थ का ज्ञान) होता है, उसे शक्ति या शब्द शक्ति कहते हैं।

अभिधा-शक्ति

साक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाली शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है। इसके द्वारा भाषा के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है। मुख्य अर्थ को साक्षात् संकेतित अर्थ कहते हैं अर्थात् शब्द के श्रवण-मात्र से (सुनने पर) जो अर्थ जाना जाय वही साक्षात् संकेतित अर्थ है। किसी शब्द

का जो अर्थ 'शब्दकोश' में लिखा गया होता है, वही उसका मुख्य अर्थ होता है। साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी अर्थों का 'मुख' होता है और इसका बोध सभी प्रकार के प्रतीत अर्थों के पूर्व ही हो जाता है, अतः इसे शब्द की प्रथमा शक्ति कहते हैं। संकेत का अर्थ मुख्य है। शब्द के सुनने से जो अर्थ प्रकट होता है, वही मुख्य अर्थ है और उसे ही प्रसंगप्राप्त अर्थ कहते हैं। अभिधा-शक्ति द्वारा उसी मुख्य या प्रधान अर्थ का ज्ञान होता है।

उदाहरण के लिए किसी बच्चे से कहा जाय कि घड़ा लाओ तो वह घड़े का अर्थ घट जानकर घड़ा ही देगा न कि उसके बदले में पुस्तक लाकर रख देगा। वक्ता के मुख से ज्योंही 'घड़ा' शब्द निकला कि बच्चे ने (श्रोता ने) उसका अर्थ समझ लिया। यहाँ घड़ा का मुख्य अर्थ घट है।

साक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाले शब्द को वाचक कहते हैं अर्थात् शब्द के श्रवण-मात्र से अर्थ की प्रतीति का होना वाचक है। संसार के सभी शब्द वाचक हैं। वाचक शब्द चार प्रकार के होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छावाचक। जो शब्द अपनी समस्त जाति का बोधक हो या जो समस्त जाति का बोध कराये, उसे जातिवाचक शब्द कहते हैं, जैसे—घट (घड़ा), पुस्तक आदि। इनसे समस्त घड़ा एवं पुस्तक का ज्ञान होता है। गुणवाचक शब्द किसी वस्तु की विशेषता बतलाता है और वह शब्द सदा विशेषण होता है। जैसे; उजली गाय, लाल घोड़ा, हरी घास। यहाँ उजली शब्द गाय की विशेषता बतलाता है और लाल तथा हरी शब्दों से घोड़ा और घास की विशेषता प्रकट होती है। जो शब्द क्रिया का निमित्त या कारण बनकर प्रवृत्त होता है, उसे क्रियावाचक शब्द कहते हैं। जैसे पाचक (भोजन बनाने वाला) यहाँ पाक-क्रिया (भोजन बनाने) के निमित्त से पाचक शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस शब्द से किसी एक व्यक्ति का ज्ञान हो, उसे यदृच्छावाचक शब्द कहते हैं। यह एक व्यक्ति का बोधक होता है। इसमें व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी का नाम रखता है। जैसे—महेश गिरिधारी आदि।

लक्षणा-शक्ति

मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति से उससे (मुख्यार्थ से) सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान हो तो उसे लक्षणा-शक्ति कहते हैं। लक्षणा-शक्ति से लाक्षणिक अर्थ या लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और जिन शब्दों से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, उन्हें लक्षक कहते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि वक्ता ने जिस प्रसंग में कोई बात कही, उसकी संगति मुख्यार्थ के साथ नहीं बैठी और मुख्य अर्थ को समझने में बाधा पड़ गयी अर्थात् मुख्यार्थ के साथ

उसका साक्षात् विरोध हो गया। ऐसी स्थिति में उससे अर्थात् मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ ग्रहण करना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार के अर्थ का ग्रहण या तो रूढ़ि या लौकिक व्यवहार के कारण होता है या प्रयोजन से अर्थात् किसी विशेष अर्थ या प्रयोजन की सिद्धि के लिए। इस प्रकार लक्षणा शक्ति में तीन बातें मुख्य हुईं—

क—मुख्यार्थ का बाध—

ख—मुख्यार्थ का सम्बन्ध अर्थात् मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध—

ग—रूढ़ि या प्रयाजन—

(क) मुख्यार्थ का बाध—मुख्यार्थ या मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा, व्यवधान या प्रत्यक्ष विरोध का होना मुख्यार्थ का बाध है। जब वक्ता का अभिप्राय मुख्यार्थ से प्रकट नहीं होता या उससे उसका प्रत्यक्ष विरोध होता है, तो उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी ने कहा कि आपका घर कहाँ है ? तो वक्ता ने कहा कि मेरा घर स्टेशन पर है। अब वक्ता क्योंकर यह बात स्वीकार करे कि श्रोता का घर स्टेशन पर होगा। क्योंकि गाड़ियों की रेल-पेल में उसका घर धराशायी हो जायगा। यहाँ घर को स्टेशन पर कहना मुख्यार्थ का बाध हुआ; क्योंकि घर का स्टेशन पर होना सम्भव नहीं है, यहाँ वक्ता के कथन में प्रत्यक्ष विरोध है। दूसरा उदाहरण 'वह गधा है' का दिया जा सकता है। यहाँ किसी व्यक्ति को गधा कहा गया है, जिससे वक्ता के कथन में प्रत्यक्ष विरोध है या यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। हम देख रहे हैं कि वह आदमी है और उसे वक्ता गधा कह रहा है। आदमी को गधा कहने में वक्ता का अभिप्राय मुख्यार्थ से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। अतः वक्ता के कथन में प्रत्यक्ष विरोध होना या प्रसंगप्राप्त अर्थ का अस्पष्ट रह जाना ही मुख्यार्थ का बाध है। मुख्यार्थ के बाध का अर्थ है मुख्यार्थ में व्यवधान या रुकावट पड़ जाना, मुख्यार्थ के साथ मेल नहीं बैठना।

(ख) मुख्यार्थ का योग या सम्बन्ध—मुख्यार्थ के योग का अर्थ मुख्यार्थ के सम्बन्ध से है। जब मुख्य अर्थ में रुकावट (व्यवधान) आ जाती है तो उससे सम्बन्ध (मुख्यार्थ से) रखने वाले अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है और वह अर्थ ऐसा होता है जिसका मुख्यार्थ के साथ योग या सम्बन्ध होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मुख्य अर्थ में बाधा पड़ने पर उससे जो अन्य अर्थ किया जाता है उसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को ही मुख्यार्थ का योग कहते हैं। जैसे 'वह गधा है' इस वाक्य में 'गधा' का अर्थ मूर्ख किया गया जिसका गधे के साथ सम्बन्ध है। गधा को मूर्ख कहते हैं।

मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग तो लक्षणा का अनिवार्य तत्त्व है, पर रूढ़ि और प्रयोजन में से कोई एक ही होता है अर्थात् या तो रूढ़ि होगी या प्रयोजन होगा। रूढ़ि का अर्थ सामाजिक प्रचलन, सामाजिक परम्परा है। प्रयोजन उद्देश्य को कहते हैं। समाज में मूर्ख को गधा कहने का रिवाज है। प्रयोजन का अर्थ विशेष या उद्देश्य से है। पद्य का उदाहरण—

लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में, बूँदें निज संसृति रचतीं॥

—कामायनी।

यहाँ 'व्योम चूमती' में लक्षणा है। लहरों के लिए व्योम (आकाश) का चूमना सम्भव नहीं है, यहाँ 'चूमना' का अर्थ स्पर्श करना है। इस शब्द का प्रयोग एक विशेष उद्देश्य या प्रयोजन के कारण हुआ है और वह है प्रलय की भीषणता प्रकट करना। प्रलयकाल में सागर की लहरें आकाश को छू रही थीं। 'व्योम चूमती' में मुख्यार्थ का बाध (रुकावट) है, अतः लक्षणा से इसका अर्थ स्पर्श करना किया गया, जिसमें मुख्यार्थ के साथ योग है। यहाँ तीसरा तत्त्व प्रयोजन है।

लक्षणा के भेद—लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढ़िलक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा।

(१) **रूढ़िलक्षणा**— जब रूढ़ि या प्रचलित परम्परा के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ को ग्रहण किया जाय तो रूढ़िलक्षणा होती है।

रूढ़ि का अर्थ है रिवाज या प्रचलित परम्परा (चलन)। इसमें रूढ़ि के कारण मुख्य अर्थ में बाधा आने पर उसी से सम्बद्ध अर्थात् मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ या लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है। इसका उदाहरण 'वह गधा' है, यह वाक्य होगा। समाज में मूर्ख को गधा या बैल कहने का रिवाज है। इसलिए 'वह गधा है या वह बैल है' आदि वाक्यों में रूढ़िलक्षणा हुई। जैसे; कहा जाय कि 'पंजाब लड़ाका है' तो यहाँ पंजाब में मुख्यार्थ का बाध हुआ। पंजाब तो भारत का एक राज्य है, वह लड़ेगा कैसे ? पर, पंजाबी को समाज में पंजाब कहने का रिवाज (चलन) है, अतः पंजाब लड़ाका है का अर्थ पंजाबी लड़ाका है से है।

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस तें, खरे लजाने लाल॥

—बिहारी।

यहाँ 'ब्रज बेहाल' में ब्रज में लक्षणा है। ब्रज कैसे बेचैन हो सकता है ? अतः ब्रज का बेहाल होना, इस कथन में मुख्यार्थ का बाध है अर्थात् मुख्यार्थ बाधित है। रूढ़िलक्षणा से ब्रज का अर्थ ब्रजवासी किया गया, जिसका अर्थ हुआ

कि ब्रज के लोग बेहाल हो गए। श्रीकृष्ण ने इन्द्र के भय से ब्रजवासियों को भयंकर वर्षा से बचाने के लिए गोवर्द्धन पर्वत को अंगुली पर उठा लिया था। उसी समय राधा आ गयी और उसे देखते ही प्यार के कारण कृष्ण का हाथ हिलने लगा जिससे पर्वत भी डगमगाने लगा और ब्रज के लोग पर्वत के गिरने की आशंका से बेहाल हो गए। पर, व्रजवासियों को इस बात का पता चल गया कि श्रीकृष्ण का हाथ राधिका के कारण कँपा है। इस बात की जानकारी हो जाने के कारण श्रीकृष्ण लज्जित हो गए।

(२) **प्रयोजनवती लक्षणा**—जब किसी विशेष प्रयोजन या उद्देश्य के कारण लक्षणा की जाय तब प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसे फललक्षणा भी कहा जाता है। प्रयोजनवती लक्षणा में किसी विशेष प्रयोजन या फल के कारण मुख्यार्थ में रुकावट होने पर उससे सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ या लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे 'स्टेशन पर घर है' इस वाक्य में प्रयोजनवती लक्षणा है। इसका अन्य उदाहरण 'गंगा में घर है'। गंगा में घर का होना सम्भव नहीं; क्योंकि धारा में वह प्रवाहित हो जायगा; अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हुआ। जब यहाँ गंगा का अर्थ गंगा के किनारे किया गया तब मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध हुआ। यह अर्थ निकटता या सामीप्य के कारण किया गया कि गंगा के किनारे घर है। इस अर्थ में मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया। 'गंगा में घर' कहने में वक्ता का विशेष उद्देश्य है घर की पवित्रता और शीतलता बताना। यहाँ विशेष प्रयोजन के कारण लक्षणा की गयी है, अतः यह वाक्य प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण हुआ।

प्रयोजनवती लक्षणा भी दो प्रकार की होती है—गौणी और शुद्धा।

(१) **गौणी लक्षणा**—जब समान गुण या सादृश्यसम्बन्ध के कारण लक्षणा की जाय तो गौणी लक्षणा होती है। जैसे, 'मुख कमल है' इस वाक्य में मुख कमल नहीं हो सकता, अतः इस वाक्य में मुख्यार्थ का बाध है। कमल और मुख दो वस्तुएँ हैं, पर गौणी लक्षणा के द्वारा इसका अर्थ हुआ कि मुख और कमल के गुणों में समानता है। कमल के गुण हैं—कोमलता और सुन्दरता जो कि मुख में भी विद्यमान हैं। अतः गुण की समानता के कारण 'मुख-कमल है' इस वाक्य का अर्थ हुआ कि 'मुख कमल के सदृश है।' लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति सादृश्य के कारण यहाँ गौणी लक्षणा हुई।

मुरलिका कर-पंकज में लसी,
जब अचानक थी बजती कभी।

तब अनूप पियूष-प्रवाह में,
जब समागम था अवगाहता ॥

—प्रियप्रवास ।

यहाँ 'कर-पंकज' में सादृश्य-सम्बन्ध के कारण गौणी लक्षणा है। इसमें सादृश्य-सम्बन्ध के कारण ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। कमल का गुण है कोमलता और हाथ में भी यह विद्यमान है, अतः हाथ को कमल कहा गया। यहाँ कवि का प्रधान प्रयोजन हाथ की कोमलता बताना है, अतः इसका अर्थ हुआ कि कर (हाथ) कंज (कमल) के समान कोमल है।

(२) **शुद्धा लक्षणा**—जब सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से लक्षणा की जाय या लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो तो शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

—यशोधरा से ।

'आँचल मे है दूध' इस वाक्य में मुख्यार्थ बाधित है अर्थात् इस वाक्य से वक्ता का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। आँचल में दूध का होना सम्भव नहीं, अतः आँचल के निकट होने के कारण (सामीप्य-सम्बन्ध से) इसका अर्थ स्तन में दूध का होना किया गया। यहाँ कवि का उद्देश्य मातृत्व की अधिकता बतलाना है। सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्षणा होने के कारण यहाँ शुद्धा लक्षणा हुई।

शुद्धा लक्षणा के भी दो प्रकार होते हैं—उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

(१) **उपादान लक्षणा**—जब प्रयोजनीय अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ के ग्रहण किये जाने पर भी अपना अर्थ नहीं छूटे अर्थात् मुख्यार्थ बना रहे तो उपादान लक्षणा होगी। इसका अन्य नाम अजहत्स्वार्था भी है अर्थात् जहाँ अपना अर्थ (स्वार्थ) नहीं छूटता। (अजहत्) अन्य अर्थ के ग्रहण करने पर भी अपना अर्थ बना रहे।

जैसे कहा जाय कि 'पगड़ी की लाज रखिये' तो यहाँ उपादान लक्षणा होगी। पगड़ी की लाज रखने में मुख्यार्थ बाधित है। यहाँ लक्षणा से अर्थ होगा पगड़ीधारी की लाज। इस अर्थ में पगड़ी का अपना अर्थ बिल्कुल ही नहीं छूटता, दोनों साथ-साथ रहते हैं। 'उसके पास फूटी कौड़ी भी नहीं है' इस वाक्य में फूटी कौड़ी में उपादान लक्षणा है, जिसका अर्थ तुच्छ धन है।

धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करौं पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब, आवा बालिकुमार ॥

यहाँ 'व्याकुल नगर' के कथन में उपादान लक्षणा है। नगर निर्जीव है, अतः उसका व्याकुल होना संभव नहीं। यहाँ मुख्य अर्थ की बाधा है। लक्षणा से नगर का अर्थ नगरवासी किया गया और नगर का धर्म नगरवासी ने ग्रहण किया। तब इसका अर्थ हुआ कि नगरवासियों को व्याकुल देखकर बालिकुमार अंगद आया।

(२) **लक्षण-लक्षणा**—इसमें प्रयोजनप्राप्त अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ को त्याग कर अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है। लक्षण-लक्षणा का अन्य नाम जहत् (छोड़कर) स्वार्था (अपना अर्थ) भी है। इसमें मुख्यार्थ को एकदम छोड़कर अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है। जैसे 'पेट में चूहा कूदता है।' इस वाक्य में लक्षण-लक्षणा हुई। पेट में चूहे का कूदना संगत नहीं है, अतः मुख्यार्थ-बाधित हो गया। लक्षणा से चूहे का कूदना 'जोर की भूख लगना' में बदल गया। जोर की भूख लगना जो अन्य अर्थ हुआ, उसका मुख्य अर्थ (चूहा का कूदना) से कोई सम्बन्ध नहीं है। लक्षण-लक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्णतः तिरस्कार कर अन्यार्थ या लक्ष्यार्थ का ग्रहण होता है। इसका अन्य उदाहरण 'पेट में आग लगी है' भी है जिसका अर्थ अधिक भूख लगना है।

कच समेट कर भुज उलटि, खये सीस पर डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरो बाँधनिहारि॥

—बिहारी।

यहाँ मन के बांधने (मन बाँधै) में लक्षण-लक्षणा है। मन कोई ठोस पदार्थ नहीं है जिसको कि बाँधा जाय, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हुआ। लक्षणा से इसका अर्थ हुआ मन को अनुरक्त करना। 'मन का बाँधना' इस कथन का संबंध मन को अनुरक्त करने के साथ बिल्कुल नहीं है। यहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ को ग्रहण किया गया है।

लक्षणा के अन्य भेद भी हैं, पर यहाँ विस्तार-भय से सबका वर्णन नहीं किया जा रहा हैं।

व्यंजना

जब अभिधा और लक्षणा अपने-अपने अर्थ का बोध करा कर शान्त हो जाएँ, तब जिस शक्ति से व्यंग्यार्थ का बोध हो उसे व्यंजना कहते हैं।

'व्यंजना' का अर्थ है विशेष (वि) प्रकार का अंजन (अंजना)। अंजन के लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है, पर जब विशेष प्रकार का अंजन लगाया जाय तो दिव्य ज्ञान हो सकता है। उसी प्रकार व्यंजना के द्वारा शब्द में निहित अपूर्व अर्थ की प्रतीति होती है। व्यंजना-शक्ति शब्द में छिपे दिव्य या

रहस्यमय अर्थ को प्रकट या द्योतित करती है और वह अर्थ तभी प्रकट होता है जब अभिधा और लक्षणा व्यर्थ हो जाएँ। व्यंजना-शक्ति का काम है अभिधा एवं लक्षणा द्वारा अप्रकाशित अर्थ को प्रकट करना या प्रकाश में लाना। जब अभिधा-शक्ति शब्द के अर्थ को बतलाने में असमर्थ हो जाती है तो लक्षणा के द्वारा उसका अर्थ निकलता है। किन्तु कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनका ज्ञान अभिधा और लक्षणा के द्वारा नहीं होता, अतः ऐसी स्थिति में एक तीसरी शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है और वह शक्ति व्यंजना ही है। अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ केवल शब्द की ही शक्तियाँ हैं या व्यापार हैं, पर व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों में लगती है।

उदाहरण के लिए पूर्वोक्त वाक्य 'गंगा में गाँव है' इसको लिया जा सकता है। गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है, अतः लक्षणा-शक्ति से इसका अर्थ हुआ 'गंगा के किनारे गाँव'। यहाँ 'गंगा' से लक्षणा द्वारा तट का अर्थ ग्रहण किया गया। पर, कहने वाले का आशय अपने गाँव की पवित्रता एवं शीतलता बतलाना है और लक्षणा द्वारा यह अर्थ प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा नियम है कि एक बार एक ही अर्थ प्रकट हो सकता है, अतः गाँव की पवित्रता और शीतलता बतलाने के लिए अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। यह तीसरा अर्थ व्यंजना द्वारा ही प्रकट हो सकता है। व्यंजना-शक्ति विशेष अर्थ को प्रकट करती है और यहाँ घर की पवित्रता तथा शीतलता ही विशेष अर्थ है। इसी प्रकार कोई कहे कि आजकल आप खूब पढ़ रहे हैं, तो व्यंजना से इसका अर्थ होगा कि आजकल आप खाक-भूसा कुछ भी नहीं पढ़ते। इसी प्रकार आप बड़े कवि हैं, आप बड़े विद्वान् हैं, आदि वाक्यों में भी व्यंजना होगी और उनका अर्थ होगा कि आप निकृष्ट कोटि के कवि हैं और आप मूर्ख हैं।

सदा करौं गृह काज, दिन बीतत याही माँझ।
ईठि लहौं फल एक पल, नीठि निहारे साँझ॥ —दास।

यहाँ कोई नायिका अपने प्रेमी को लक्ष्य कर, जो कि पास ही में कहीं खड़ा है, बात कर रही है। यहाँ कहती है नायिका, सुनती है उसकी सखी और समझता है नायक। नायिका सखी से कहती है कि घर में सदा काम करना पड़ता है और इसी प्रकार दिन व्यतीत हो जाता है। बड़ी कठिनाई से संध्या समय फुर्सत मिलती है। इस कथन के द्वारा यह व्यंग्य अर्थ प्रकट होता है कि नायिका संध्या समय अपने प्रेमी से मिलेगी। यहाँ छिपे हुए अर्थ का या विशेष अर्थ का ज्ञान व्यंजना-शक्ति से ही होता है। व्यंजना-शक्ति द्वारा द्योतित या प्रकटित अर्थ अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतर होता है।

रस

भावों की परिपक्वावस्था का नाम रस है। आ० विश्वनाथ[1] के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा जब स्थायीभाव पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त करता है तो उसे रस कहते हैं। रस का अर्थ है आस्वाद्य अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाय उसे रस कहते हैं, पर काव्यशास्त्र में रस शब्द आनन्दबोध या आनन्दानुभूति का बोधक है। काव्य के पढ़ने से या नाटक के देखने से जब आनन्दानुभव होता है तो हम कहते हैं कि इसमें बड़ा रस आया। यहाँ रस शब्द आनन्द का द्योतक होता है। भावों के द्वारा रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है और भाव मन के विकार या परिवर्त्तन को कहते हैं। जब भाव पूर्णावस्था को पहुँच जाते हैं तो उन्हें रस कहते हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के आद्याचार्य भरत का कथन है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए भरत कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक तरह के व्यञ्जनों तथा औषधि आदि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ आदि द्रव्यों और व्यञ्जनों तथा औषधि आदि के षाडव (पानक रस) आदि से रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अनेक भावों के उपगत होने से स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त करता है। विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों तथा विविध अभिनयों के द्वारा ही रस की अभिव्यक्ति होती है और विविध भावों तथा अभिनयों द्वारा संयुक्त होकर ही स्थायीभाव रसत्व प्राप्त करता है। आ० मम्मट का कहना है कि लौकिक व्यवहार में रति आदि चित्तवृत्ति विशेष के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य और नाटक में वर्णित होकर रति आदि स्थायी भावों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं तथा उन विभावादि के द्वारा व्यक्त किया गया स्थायीभाव रस कहा जाता है। रति आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति के कारण को विभाव, उनके कार्य को अनुभाव और उनके सहकारी या सहायक कारण को संचारी या व्यभिचारी भाव कहा जाता है।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी।

स्थायीभाव—स्थायीभाव वे हैं, जो रस में प्रारंभ से अन्त तक बने रहते हैं और विरोधी भाव न तो उन्हें दबा सकते हैं और न अविरोधी या मित्र भाव उन्हें अपने में मिला सकते हैं। स्थायीभाव रस का मूल होता है और उसकी

---

१. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेतिरत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ —साहित्यदर्पण, ३।१

संख्या ९ होती है—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा, उत्साह, आश्चर्य तथा निर्वेद या शम और इनसे क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स, वीर, अद्भुत और करुण रसों की उत्पत्ति होती है। नौ स्थायी भावों के कारण रस भी नौ प्रकार के होते हैं।

संचारी भाव—अस्थायी भाव के अन्तर्गत संचारी भाव या व्यभिचारी भाव आते हैं, जिनकी स्थिति रस में अत्यन्त क्षणिक होती है। वे लहर की भाँति उठकर अल्पकाल में ही अपना कार्य सम्पादित कर विलीन हो जाते हैं। इनका उद्देश्य स्थायीभाव को गति देना है, अतः ये उसके सहायक होते हैं। इनकी संख्या ३३ है। वे हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्था, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, वितर्क।

अनुभाव—आन्तरिक भावों की बाह्य अभिव्यक्ति को अनुभाव कहते हैं। ये रस के कार्य कहे जाते हैं और इनके द्वारा रस की प्रतीति होती है। अनुभाव उन क्रियाओं को कहते हैं जिनके द्वारा रसास्वाद का अनुभव होता है। अनुभाव का अर्थ है भाव के पीछे (अनु) आने वाला या अनुभव कराने वाला। जो चेष्टाएँ रस का बोध करायें वे अनुभाव कहलाती हैं। इसके तीन भेद हैं—सात्त्विक, कायिक और मानसिक। शरीर का स्वाभाविक अङ्गविकार ही सात्त्विक अनुभाव है। ये चेष्टाएँ अपने आप या स्वतः स्फुरित (प्रकट) हो जाती हैं। इनकी संख्या आठ है—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। भय, लज्जा या आनन्द आदि के कारण शारीरिक क्रियाओं का बन्द हो जाना या शरीर के अङ्गों का संचालन रुक जाना स्तंभ है। हर्ष, शोक, क्रोध आदि से पसीने का निकलना स्वेद है। स्वेद का अर्थ पसीना है। हर्ष, भय, शीत, क्रोध, विस्मय आदि के कारण शरीर के रोम-समुदाय के उठ जाने को रोमांच कहते हैं।

हर्ष, भय, पीड़ा, मद्यपान आदि के कारण गले का रुँध जाना स्वरभंग है। स्वरभंग या अर्थ है बोली का बदलना। हर्ष, क्रोध, श्रम, भय आदि के कारण शरीर का थरथराना कंप हैं। विषाद, मद, क्रोध, भय आदि के कारण शरीर का रंग बदलने को वैवर्ण्य कहते हैं। वैवर्ण्य का अर्थ है मुँह का रंग बदल जाना। हर्ष, रोष, दुःख, भय आदि के कारण नेत्रजल का उत्पन्न होना अश्रु है। दुःख अथवा सुख के कारण चेष्टारहित हो जाना प्रलय है। प्रलय का अर्थ है ज्ञानशून्यता।

शारीरिक अङ्गों द्वारा जो कृत्रिम चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें कायिक अनुभाव कहते हैं। मन के द्वारा होने वाले प्रमोदादि मानसिक भावों को मानसिक अनुभाव कहते हैं।

विभाव—रस के कारण को विभाव कहते हैं। ये विशेष रूप से रस को उत्पन्न करते हैं। विभाव का अर्थ है, विशेष प्रकार का भाव। ये रति आदि स्थायी भावों के उद्बोधक या उनकी उत्पत्ति के कारण हैं। इनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारी भावों की विशेष प्रकार से प्रतीति होती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं आलंबन एवं उद्दीपन। आलंबन भाव के विषय को कहते हैं। आलंबन दो प्रकार के हैं - आलंबन एवं उद्दीपन। रत्यादि भावों के जाग्रत होने को आलंबन कहते हैं और उन्हीं का अवलंबन कर स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त करता है। काव्य या नाटक में वर्णित नायिकादि को आलंबन कहते हैं, क्योंकि इन्हीं के सहारे सहृदयों के हृदय में रस का संचार होता है। जिन व्यक्ति या व्यक्तियों में भाव की उत्पत्ति होती है उन्हें आश्रय कहते हैं। आलंबन के दो प्रकार हैं—आश्रय और आलंबन। आश्रय में रस की उत्पत्ति होती है। आलंबन उसे कहते हैं जिस पर रस टिकता है। जैसे, नायक और नायिका। उद्दीपन के अन्तर्गत मानवेतर सृष्टि या प्रकृति आती है। जो विभाव रस को तीव्र या उद्दीप्त करते हैं, उसे उद्दीपन कहते हैं। इसके अन्तर्गत नायक-नायिकादि की चेष्टाएँ, आभूषण, वस्त्र एवं देशकालादि आते हैं तथा षड्ऋतु, नदी, चन्द्रमा, वन, समुद्र आदि भी उद्दीपन हैं। प्रत्येक रस के अलग-अलग आलंबन और उद्दीपन होते हैं।

स्थायी भावों के प्रकार – भरत ने आठ रसों को ही मान्यता दी है और, नवम् रस शान्त को नाटक के लिए अनुपयुक्त मानकर उसे अस्वीकार कर दिया है। अतः आठ रसों के कारण आठ स्थायी भावों को मान्यता प्राप्त हुई है। पर, आगे चलकर जब नौ रसों की स्वीकृति हुई तो स्थायीभाव भी नौ माने गए। स्थायीभाव रसों के मूल भाव हैं और वे प्रत्येक मनुष्य के मन में वासना-रूप से विद्यमान रहते हैं। उन्हें अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव न तो अपने में छिपा सकते हैं और न दबा सकते हैं और ये रस में प्रारम्भ से अन्त तक विद्यमान रहते हैं। चित्त के स्थिर मनोविकार को ही स्थायीभाव कहा जाता है, जो प्रतिकूल अथवा अनुकूल दोनों प्रकार की स्थितियों में निरन्तर विद्यमान रहता है। यह विरोधी एवं अविरोधी (मित्र) भावों को अन्तर्निहित कर आत्मसात् कर लेता है या अपने में मिला लेता है। स्थायीभाव ही रस का मूल भाव है और यही विभाव, अनुभाव और संचारी से मिलकर रसत्व प्राप्त करता है। स्थायीभाव नौ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) रति—यह श्रृंगार रस का स्थायीभाव है। रति का अर्थ है—प्रीति या अनुरक्ति। इसमें स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक अनुरक्ति का वर्णन होता है अर्थात् नर-नारी के पारस्परिक प्रेमानुराग को रति कहते हैं।

(२) हास—यह हास्य रस का स्थायीभाव है। विकृत वेश-भूषा या वचन के परिवर्तन (विकार) से हृदय में उत्पन्न आनन्द के कारण हँसी का आना 'हास' है।

( ) शोक—यह करुण रस का स्थायीभाव है। इष्ट वस्तु या प्रिय वस्तु के नाश या अनिष्ट या अप्रिय वस्तु के चिन्तन से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को 'शोक' कहते हैं।

(४) क्रोध—यह रौद्र रस का स्थायीभाव है। शत्रुकृत अत्यन्त बड़े अपराध अथवा अपमानादि से हृदय में उत्पन्न उत्तेजनापूर्ण भाव को क्रोध कहते हैं।

(५) भय यह भयानक रस का स्थायीभाव है। भीषण वस्तु की भयंकरता से उत्पन्न चित्त की विकलता का नाम भय है।

(६) उत्साह—यह वीर रस का स्थायीभाव है। दान, दया और शूरता आदि के द्वारा उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को उत्साह कहते हैं।

(७) जुगुप्सा—यह बीभत्स रस का स्थायीभाव है। घृणोत्पादक वस्तुओं के देखने, सुनने एवं स्मरण करने से चित्त में उत्पन्न होने वाली घृणा के किंचित् भाव को जुगुप्सा कहते हैं।

(८) आश्चर्य—यह अद्भुत रस का स्थायीभाव है। इसमें समझ में न आने वाले पदार्थों के देखने, सुनने या स्मरण करने से चित्त में किंचित् विस्मय का भाव उत्पन्न होता है।

(९) निर्वेद या शम—यह शान्त रस का स्थायीभाव है। संसार की अनित्यता देखकर सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य की भावना का उत्पन्न होना निर्वेद है।

नौ रसों का विवरण

श्रृंगार, वीर, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, अद्भुत, बीभत्स और शान्त नौ रस हैं।

(१) श्रृंगार रस—'श्रृंगार' शब्द श्रृंग और आर् दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ है, कामोद्रेक (श्रृंग) की प्राप्ति या वृद्धि (आर्)। इसमें नायक-नायिका के हृदय-स्थित रति भाव की पूर्णतः अभिव्यक्ति होती है। इसका स्थायीभाव रति है और रंग श्याम है। इसके आलम्बन नायक-नायिका हैं और

अनुभाव हैं--प्रेमपूर्वक देखना, कटाक्ष करना आदि। शृंगार रस के उद्दीपन हैं—षड्ऋतु, वन, उपवन, चाँदनी रात, पुष्प, शीतल-मंद समीर, सखा, सखी, दूती आदि।

उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त इसमें सभी संचारियों का प्रयोग होता है। शृंगार रस के दो भेद हैं—संयोग (संभोग) और वियोग (विप्रलंभ)। जब नायक-नायिका दर्शन, स्पर्श एवं परस्पर वार्त्तालाप या प्रेमालाप का आनन्दानुभव करते रहें, तो संयोग शृंगार होता है। इसमें नायक-नायिका एक साथ रहकर संयोग-सुख का आनन्द लूटते हैं। वियोग शृंगार में नायक-नायिका एक दूसरे से अलग रहकर मिलन की आकांक्षा करते हैं। इस स्थिति में दोनों में प्रबल प्रेम उत्पन्न होकर भी मिलन नहीं होता।

उदाहरण—

दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छबि सागर के छोर हैं।
'चिंतामनि' केलि की कलानि के विलासनि सों,
दोऊ जने दोउन के चित्तनि के चोर हैं॥
दोऊ जने मंद मुसुकानि सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद-मद दुहूँ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भए,
राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं॥

यहाँ राम और सीता का पारस्परिक अनुराग रति स्थायी है और राम तथा सीता आलम्बन हैं। दोनों का एक दूसरे के प्रति देखना और देखकर मुस्कुराना अनुभाव है तथा हर्ष, उत्सुकता आदि संचारी हैं। राम तथा सीता के प्रेम का वर्णन होने के कारण यहाँ शृंगार रस हुआ। दोनों का सुन्दर रूप उद्दीपन है।

(२) हास्य रस—विकृत वचन या विकृत वेश-भूषा को देखकर हास्य रस उत्पन्न होता है। इसका स्थायीभाव हास है और विकृत वाणी या विकृत वेष वाला व्यक्ति आलम्बन होता है। इसके उद्दीपन हैं—अनुपयुक्तवचन एवं हास्यात्मक चेष्टाएँ। मुख, अधर और नासिका का फैलना तथा आँखों का मींचना अनुभाव है। संचारी भाव हैं--निद्रा, आलस्य, चपलता, उत्सुकता, अवहित्था आदि।

उदाहरण—

विधि हरि संग हर हिम के भवन ठाढ़े।
कुवर कलेऊ को दिगंबर सुभेष कैं।
कहत 'बिहारी' सजी पन्नग लँगोटी एक,
जानकैं मृजाद राजभवन विशेष कैं॥

तौ लौं गये गरुड़ विलोकि सो भुजंग भाज्यौ,
संभु सकुचाने हँसे साथी प्रमा देखि कै।
ब्रह्मा हँसे तारी दै दै विष्णु हँसे तारी दै दै,
नारी हँसी सारी दै दै दूल्हा देखि देखि कै॥

यहाँ शिव को नंगा देखकर लोगों का हँसना स्थायीभाव हास है और शिव जी आलम्बन विभाव हैं। उनका नंगा रूप और गरुड़ को देखकर लंगोटी बने हुए सर्प का खिसक जाना और शिव जी का नंगा हो जाना उद्दीपन है। नग्न महादेव को देखकर ब्रह्मा, विष्णु आदि का तारी देकर हँसना अनुभाव है और हर्ष, चपलता आदि संचारी हैं।

(३) करुण रस—इष्ट के नाश (प्रिय वस्तु के नष्ट होने) और अनिष्ट (अप्रिय वस्तु) की प्राप्ति से करुण रस उत्पन्न होता है।

इसका स्थायीभाव शोक है और आलम्बन होता है मृत व्यक्ति, कोई सम्बन्धी या दीनहीन अवस्था को प्राप्त कोई पुरुष। करुण रस के उद्दीपन हैं—मृतक व्यक्ति का दाह-कर्म, उसका गुण-श्रवण तथा उसकी वस्तुओं को देखना। इसके अनुभावों में रोना, कल्पना, चिल्लाना, भूमि-पतन, उच्छ्वास लेना, प्रलाप आदि आते हैं। संचारी भावों में स्मृति, विषाद, दैन्य हैं।

उदाहरण—

मातु को मोह न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात गहे को।
प्रान की छोम न, बन्धु बिछोह, न राज को लोभ न मोद रहे को॥
एते पै नेक न मानत 'श्रीपति' एते मैं सीय-वियोग सहे को।
तारन भूमि मैं राम कह्यो, मोहि सोच विभीषन भूप कहे को॥

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर अर्थात् अप्रिय वस्तु की प्राप्ति से राम के विलाप में करुण रस प्रकट हुआ है। यहाँ राम का लक्ष्मण के लिए रोना शोक स्थायी है। लक्ष्मण आलम्बन हैं और राम आश्रय। लक्ष्मण का मूर्च्छित शरीर, उनके अस्त्र-शस्त्र तथा उनकी वीरता आदि उद्दीपन हैं। राम का विलाप करना अनुभाव है। शोकावस्था में भी विभीषण को सिंहासनासीन कराने का भाव मति संचारी है। यहाँ स्मृति, विषाद आदि संचारी भी हैं।

(४) रौद्र रस—मान-भंग, शत्रु की चेष्टा, अपकार तथा गुरुजनों की निंदा आदि के कारण रौद्र रस की उत्पत्ति होती है।

इसका स्थायीभाव क्रोध है और आलम्बन शत्रु का अपकार करने वाला व्यक्ति है। उद्दीपन हैं—शत्रुकृत अपराध, मत्सर आदि अनुभावों के अन्तर्गत

आँखों का लाल होना (क्रोध से), त्यौरी चढ़ना, होंठ चबाना, कम्प, मुख का लाल होना हैं और संचारी हैं—अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, जड़ता आदि ।

उदाहरण—

बोरौं सबै रघुबंस कुठार की धार मैं बारन बाजि सरत्थहिं ।
बान की बायु उड़ाय कै लच्छन लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं ।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार मैं भूजौं भरत्थहिं ।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं ॥—केशव ।

यहाँ रामचन्द्र जी के ऊपर परशुराम जी का क्रोध वर्णित है। शिवधनुष के टूटने से राम के ऊपर परशुराम का क्रुद्ध होना क्रोध स्थायीभाव है। राम आलम्बन हैं और परशुराम आश्रय। शिव का धनुष तोड़कर सीता से राम का विवाह करना परशुराम के क्रोध का उद्दीपन है। 'रघुवंश' का नाश करूँगा' ऐसा उनका (परशुराम का) कथन अनुभाव है और गर्व, उग्रता, अमर्ष आदि संचारी हैं।

(५) वीर रस—प्रताप, विनय, अध्यवसाय, धैर्य, हर्ष, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह स्थायीभाव के परिपक्व होने पर वीर रस उत्पन्न होता है।

इसका स्थायीभाव उत्साह होता है और आलम्बन शत्रु। अनुभाव हैं—हथियारों का चलाना, रोंगटें खड़ा होना आदि। संचारी—धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांच आदि। उद्दीपन—शत्रु का प्रताप, उसकी वीरता, मारू बाजे का बजना, युद्धजन्य कोलाहल आदि। इसके चार प्रकार हैं—दानवीर, युद्धवीर, दयावीर और धर्मवीर तथा चारों के आलम्बन और उद्दीपन भिन्न होते हैं, पर स्थायीभाव एक ही होता है, उत्साह।

उदाहरण—

क्रुद्ध दसानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर दृट्टत ।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत ॥
मार पछार पुकारु दुहूँ दल रुण्ड झपट्टि दपट्टि लपट्टत ।
रुण्ड लरै भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत ॥

बन्दर और भालुओं की सेना को देखकर रावण के हृदय में उत्साह का जगना उत्साह स्थायीभाव है। बन्दर-भालू आलम्बन विभाव हैं और रावण आश्रय है; क्योंकि रावण के ही मन में उत्साह जागता है। बन्दर-भालुओं के युद्ध-सम्बन्धी विविध कार्य उद्दीपन हैं और मार, पछार कहना तथा शत्रुओं के सिर को काटना आदि अनुभाव हैं। यहाँ उग्रता, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं।

रौद्र एवं वीर दोनों ही रसों के आलम्बन शत्रु होते हैं (एक रहते हैं) पर इनके स्थायीभाव भिन्न रहते हैं। रौद्र रस का स्थायी क्रोध है और वीर का उत्साह। नेत्र एवं मुख का लाल होना रौद्र रस के अनुभाव हैं, वीर के नहीं।

(६) **भयानक रस** भयंकर दृश्य देखने अथवा बलवान् व्यक्तियों के अपराध करने से भयानक रस उत्पन्न होता है। इसका स्थायीभाव भय है और आलम्बन है—विकृत ध्वनि, भूत-प्रेतादि का देखना इसके अनुभाव हैं—हाथ-पैर का काँपना, नेत्रों की चंचलता, रोमांच, मुखवैवर्ण्य, स्वर-भेद आदि। भयदायक पदार्थों की चेष्टाएँ उद्दीपन हैं तथा संचारी हैं—स्तम्भ, स्वेद, गद्गद् होना, रोमांच, वेपथु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, शंका, दैन्य, चपलता, जड़ता, त्रास आदि।

उदाहरण—

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
सकै न विलोक भेष केसरी-कुमार को।
मीजि-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ तिय,
'तुलसी' तिलौ न भयो बाहिर अगार को॥
सब असबाब डारौ, मैं न काढ्यौ तै न काढ्यौ,
जिय की परी सँभारै सहन-मँडार को।
खीझति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद,
बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को॥

यहाँ लंका-दहन के भयंकर दृश्य-वर्णन में भयानक रस है। मन्दोदरी का बेचैन होना भय स्थायी है और आलम्बन हैं हनुमान जी। उनका भेष तथा गृह की सामग्रियों का जलना उद्दीपन है। हाथ मींजना, जलती हुई वस्तुओं को देखकर भागना तथा मन्दोदरी का मेघनाद को गाली देना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, स्मृति आदि संचारी हैं।

(७) **बीभत्स रस**— घृणित पदार्थों के दर्शन एवं श्रवण से जो रस उत्पन्न हो उसे बीभत्स रस कहते हैं। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा है और वर्ण नीला है। बीभत्स रस के आलम्बन हैं घृणित पदार्थ जैसे; दुर्गन्धयुक्त मांस और रक्त आदि और उद्दीपन विभाव हैं मांस आदि का सड़कर कीड़ा पड़ना। अनुभाव—मुँह फेरना, थूकना, आँख-नाक मूँदना आदि हैं। संचारी हैं—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मोह, जड़ता, चिन्ता, वैवर्ण्य उन्माद, निर्वेद, ग्लानि आदि।

उदाहरण—

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत॥

गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदि कै मांस उपारत ।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खात बिदारत ॥
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद भर्‌यो सबको हियौ ।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियौ ॥

यहाँ 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में राजा हरिश्चन्द्र द्वारा श्मशान के बीभत्स दृश्य का वर्णन है ।

स्थायीभाव जुगुप्सा है और श्मशान का दृश्य आलम्बन । उद्दीपन है—पशु एवं काक आदि का अंगों को खींचना । उपर्युक्त दृश्यों को देखकर राजा का उनका वर्णन करना अनुभाव है और मोह, स्मृति आदि संचारी हैं ।

(८) अद्‌भुत रस—आश्चर्यजनक पदार्थों के देखने से अद्‌भुत रस उत्पन्न होता है । इसकी उत्पत्ति अलौकिक वस्तु या घटना के देखने से होती है । इसका स्थायीभाव विस्मय या आश्चर्य है और आलम्बन अलौकिक या आश्चर्यजनक पदार्थ हैं । अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, संभ्रम आदि हैं और संचारी हैं—वितर्क, आवेग, स्मृति, हर्ष, मति आदि ।

उदाहरण—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोरि कि आनि बिसेखा ।
तन पुलकित मुख वचन न आवा । नयन मूँदि चरनन सिर नावा ॥
—रामायण ।

बालक राम के कई रूपों को देखकर कौशल्या के विस्मय-वर्णन में अद्भुत रस है । यहाँ स्थायीभाव विस्मय है और आलम्बन राम हैं । कौशल्या आश्रय हैं और राम के कई रूपों का यहाँ-वहाँ देखना उद्दीपन है । अनुभाव हैं—रोमांच और स्वर-भंग तथा संचारी वितर्क है ।

(९) शान्त रस—तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य के उत्पन्न होने से शान्त रस की उत्पत्ति होती है । इसका स्थायीभाव निर्वेद या शम है और अनित्य-स्वरूप संसार का ज्ञान तथा परमात्म-चिन्तन आदि आलम्बन हैं । इसके उद्दीपन विभाव हैं—पुण्याश्रम, तीर्थ-स्थान, रमणीय वन, सत्संग आदि । रोमांचादि इसके अनुभाव हैं और धृति, निर्वेद, मति, स्मृति आदि संचारी हैं ।

उदाहरण—

बन बितान रबि ससि दियो, फल भख सलिल प्रवाह ।
अवनि-सेज, पंखा-पवन, अब न कछू परवाह ॥
—पद्माकर ।

यहाँ संसार की अनित्यता की बात आलम्बन है और निर्वेद स्थायीभाव। उद्दीपन वन है तथा 'अब कुछ भी परवाह नहीं है' यह कथन अनुभाव है। संचारी हैं—मति, धृति, हर्ष आदि।

भरत ने मुख्य चार रस माने हैं—श्रृंगार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स और इनसे अन्य चार रसों को उत्पन्न माना है श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक को। श्रृंगार का रंग श्याम है और इसके देवता विष्णु हैं, हास्य का रंग श्वेत है और देवता प्रमथ हैं। रौद्र का रंग लाल (रक्त) है और देवता रुद्र हैं। करुण रस का रंग कपोत है और देवता यम हैं। वीर रस का रंग लाल है और देवता महेन्द्र हैं। भयानक का रंग काला है और देवता काल हैं। बीभत्स का रंग नीला है और देवता महाकाल हैं। अद्भुत पीत रंग का होता है और देवता ब्रह्मा हैं।

रस-निष्पत्ति

रस-निष्पत्ति का सम्बन्ध रस की उत्पत्ति से है। इस विषय के अन्तर्गत यह बताया जाता है कि रस की उत्पत्ति कहाँ होती है अर्थात् रसानुभव किसे होता है। भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में रस के स्वरूप का वर्णन करते हुए एकसूत्र का निर्माण किया है, जिसके अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है—'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द ऐसे थे कि परवर्त्ती आचार्यों ने इनकी व्याख्या कर चार सिद्धान्तों की स्थापना की। ऐसे व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रसिद्ध हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त व्याख्याताओं ने रस-विषयक चार मतों का प्रवर्त्तन किया, जिन्हें क्रमशः उत्पत्तिवाद (आरोपवाद), अनुमितिवाद, भुक्तिवाद (भोगवाद) एवं अभिव्यक्तिवाद कहते हैं। इन आचार्यों में केवल अभिनव गुप्त का ही ग्रन्थ उपलब्ध है। 'अभिनवभारती' ध्वन्यालोकलोचन', (दोनों के प्रणेता अभिनव गुप्त हैं) तथा 'काव्यप्रकाश' (मम्मट कृत) नामक ग्रन्थों में पूर्वोक्त आचार्यों के मत उद्धृत हैं और अभिनव गुप्त ने उन्हें अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किया है, जो पूर्वपक्ष के रूप में हैं। उन्होंने (अभिनव गुप्त ने) इनके विचारों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है।

(१) **भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद**—इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये मीमांसक थे और अपने रस-विवेचन में इन्होंने उसी का आधार ग्रहण किया था।

किन्तु अभी तक इनके संबंध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिससे कि ये मीमांसामतानुयायी सिद्ध हो सकें। इनके मतानुसार रस की उत्पत्ति अनुकार्य या मूलपात्र (दुष्यन्त और शकुन्तला) में होती है और अभिनय करने के कारण अभिनेता (अनुकर्त्ता) में भी उसकी प्रतीति होती है। अनुकार्य में रस की प्रतीति प्रधान रूप से एवं उसका अनुकरण करने के कारण अनुकर्त्ता में गौण रूप से होती है। इनका कहना है कि "ललनादि आलंबन तथा उद्यानादि उद्दीपन विभावों से उत्पाद्योत्पादकभाव संबंध के द्वारा उत्पन्न कटाक्ष-भुजक्षेप प्रभृति अनुभावों से गम्य-गमकभाव संबंध के द्वारा अभिव्यक्त (प्रतीतियोग्य) और निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से पोष्यपोषक-संबंध के द्वारा पुष्ट (उपचित) रत्यादि स्थायीभाव ही रस है। इस रस की स्थिति मुख्यतः तो अनुकार्य रामादि में है, पर उन्हीं के रूप का अभिनेता होने के कारण अनुकर्त्ता नटों में भी सामाजिकों को रस प्रतीति होती है।" भट्टलोल्लट के अनुसार सूत्रस्थ 'संयोग' शब्द का अर्थ संबंध एवं निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। इन्होंने रस के साथ विभाव का सम्बन्ध उत्पाद्य-उत्पादकभाव का, अनुभाव के साथ गम्य-गमकभाव का एवं संचारी के साथ पोष्य-पोषक-भाव का माना। मूलपात्रों या अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानने के कारण इनका मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक पात्रों का आरोप अभिनेता में करने के कारण इसे आरोपवाद भी कहते हैं।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए अनेक दोषों का अन्वेषण किया गया। इनके मत का प्रथम दोष यह है कि ये रस की दो प्रकार की स्थिति मानते हैं प्रमुख एवं गौण। रस की निष्पत्ति मूलपात्रों या अनुकार्य में मानने पर सामाजिक को आनन्द कैसे मिलेगा? इसका निराकरण भट्टलोल्लट के विवेचन से नहीं होता। अनुकर्त्ता में रस की गौण स्थिति मानने पर भी उससे सामाजिक या दर्शक को आनन्दोपलब्धि नहीं होगी। इन्होंने मूलपात्र या अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानकर यह स्पष्ट नहीं किया कि मूलपात्र का अभिप्राय ऐतिहासिक या वास्तविक पात्र से है या कविनिबद्धपात्र से। ये रस की उत्पत्ति अनुकार्य में मानकर रसास्वाद का अधिकारी प्रेक्षक या दर्शक को स्वीकार करते हैं। पर, कारणकार्य-सिद्धान्त के आधार पर यह मत खण्डित हो जाता है। कारण और कार्य में एकनिष्ठता या समानाधिकरण्य होना चाहिए। इस मत के अनुसार कारण-कार्य की एकनिष्ठता समाप्त हो जाती है। कारण या रस की सत्ता अनुकार्य में होती है और कार्य अर्थात् रसास्वाद प्रेक्षक को होता है। इन्हीं कारणों से भट्टलोल्लट का मत मान्य नहीं हुआ।

श्रीशंकुक का अनुमितिवाद—श्रीशंकुक ने भट्टलोल्लट के मत की आलोचना कर अनुमितिवाद नामक सिद्धान्त की स्थापना की। इन्होंने न्यायशास्त्र के अनु-

मान-प्रमाण के आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत की। ये रस की निष्पत्ति गम्यगमकभाव से मानते हुए भरतसूत्रस्थ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ अनुमिति करते हैं। इनके अनुसार विभावादि के संयोग से ही रत्यादि स्थायी भावों का अनुमान किया जाता है। इनके मतानुसार रस की स्थिति अनुकार्य या मूलपात्र में ही होती है, किन्तु दर्शक या सामाजिक नट या अभिनेता में उसका अनुमान कर आनन्दित होता है। इन्होंने विभाव को रस का कारण, अनुभाव को कार्य एवं संचारी को सहचारी रूप माना, जिनके सहयोग से अनुकार्यगत स्थायीभाव प्रयत्नपूर्वक अर्जित होता है। नट अपने नाट्यकौशल के द्वारा अनुकार्य या रामादि के भावों को इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि वे कृत्रिम होते हुए भी प्रेक्षक को अनुकार्य के ही भाव ज्ञात होते हैं अर्थात् दर्शक उसे मिथ्या न जानकर अनुमान करता है कि नट में ही रस की स्थिति है और इस प्रकार उसे आनन्दोपलब्धि होती है। सामाजिक अनुकार्य के साथ अभिनेता का अभिन्न संबंध स्थापित कर उसमें ही रस का अनुमान कर लेता है। उसे नट में दुष्यन्तादि का ज्ञान 'चित्रतुरगन्याय' से होता है, जो संशय, मिथ्या एवं सादृश्य-ज्ञान से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण है। जिस प्रकार चित्र में आलिखित तुरग को देखकर हमें यह ज्ञान होता है कि यह घोड़ा है और दौड़ रहा है, (वस्तुतः वह घोड़ा नहीं होता किन्तु हम उसे मान लेते हैं कि यह घोड़ा है) उसी प्रकार सामाजिक भी नट को ही वास्तविक दुष्यन्त एवं शकुन्तला मानकर रस या आनन्द की अनुभूति करता है।

आगे चलकर इस मत की समीक्षा की गयी और इसमें अनेक दोष निकाले गए। श्रीशंकुक ने अनुकरण एवं अनुमान को आधार बनाकर रस का विवेचन किया था। अनुकरण केवल वेश-भूषा का हो सकता है, स्थायी या संचारी भावों का नहीं। अनुमान के द्वारा रसानुभूति संभव नहीं है; क्योंकि उसमें मिथ्या के आधार पर सत्य की प्रतीति करायी जाती है, जो असम्भव है। किसी को भोजन करते देखकर किसी का पेट नहीं भर सकता। आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, अनुमान का नहीं। रति आदि भावों का अनुमान के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः न तो अनुमान द्वारा नट में रस की स्थिति संभव है और न सामाजिकों को आनन्दोपलब्धि हो सकती है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—ये रस को भावना का व्यापार मानते हैं, व्यंजना का नहीं। इनका रस-विषयक मत भुक्तिवाद के नाम से विख्यात है। इन्होंने उत्पत्ति, अनुमिति एवं अभिव्यक्ति तीनों का ही खण्डन किया है। इन्होंने भरत-सूत्र के अन्तर्गत व्यवहृत 'संयोग' का अर्थ भोज्यभोजक-संबंध एवं निष्पत्ति का अर्थ भोग या भुक्ति किया। भट्टनायक ने काव्य को शब्दात्मक व्यापार मानते हुए उसकी

तीन शक्तियों का उल्लेख किया—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व और बताया कि इनके द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। अभिधा-शक्ति के द्वारा काव्य के शाब्दिक अर्थ का ज्ञान होता है अर्थात् काव्य के पाठक और नाटक के सामाजिक (दर्शक, प्रेक्षक) को अभिधा द्वारा ही अर्थ का बोध होता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार से व्यक्तिविशेष में उत्पन्न हुए रत्यादि भाव व्यक्ति-संबंध से रहित होकर साधारणीकृत हो जाते हैं अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला जो काव्य या नाटक में नायक-नायिका के रूप में चिन्तित होते हैं, वे व्यक्तिगत संबंध से शून्य होकर सामान्य नायक-नायिका के रूप में उपस्थित होते हैं।

दुष्यन्तादि की प्रेमकथा में बैयक्तिक तत्त्व की विद्यमानता के कारण पाठक या सामाजिक के साथ सामंजस्य नहीं बैठता; क्योंकि अभिधा द्वारा प्रस्तुत प्रेम-कथा विशेष नायक-नायिका कहानी के रूप में प्रस्तुत होती है। अतः भावकत्व व्यापार या भावना द्वारा विभावादि के साधारणीकृत होने या सामान्य धरातल पर अधिष्ठित होने के कारण वह कथा सामान्य दाम्पत्य-प्रेम के रूप में प्रतीत होने लगती है। साधारणीकरण हो जाने के बाद दर्शक एवं पाठक का उस कथा के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाता है। तत्पश्चात् भोग या भोजकत्व व्यापार के द्वारा तमोगुण एवं रजोगुण के हट जाने पर सहृदय या सामाजिक रसास्वादन करने लग जाता है। इस भावित रस का आस्वाद सामान्य लौकिक भोग से विलक्षण होता है और ब्रह्मानन्दसहोदर ज्ञात होता है। भोग का अर्थ है तमोगुण एवं रजोगुण को दूर कर सतोगुण का प्रादुर्भाव। सतोगुण से युक्त ज्ञान आनन्द-स्वरूप होता है और इसे ही भोग कहते हैं। यह ज्ञान या आस्वादन अन्य ज्ञान से शून्य होने के कारण लौकिक ज्ञान से सर्वथा पृथक् अलौकिक अनुभव है, जहाँ वेद्यान्तर का सम्पर्क रह नहीं पाता। इस स्थिति में अपने-पराये का भेद मिटकर अखण्ड आनन्द का आस्वादन होता है।

भट्टनायक के रस-विवेचन का आधार सांख्य-दर्शन है। 'सत्त्वोद्रेक' तथा 'भोग' शब्द के कारण यह सिद्धान्त सांख्यमतानुयायी निश्चित होता है। इनके मत का खण्डन कर अभिनव गुप्त ने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(क) भट्टनायक ने परम्परा-समर्थित शब्दशक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना-के अतिरिक्त भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार का जो उल्लेख किया है, उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है।

(ख) अभिनव गुप्त के अनुसार शब्द की व्यंजकता के द्वारा विभावन व्यापार स्वतः उद्भूत होता है और उससे विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है, अतः दोनों ही शक्तियाँ व्यर्थ हैं। भावकत्व का कार्य लक्षणा से चल सकता है

और ये शक्तियाँ भिन्न नाम से ही व्यंजना से पृथक् ज्ञात होती हैं, वस्तुतः ये उससे भिन्न नहीं हैं।

(४) अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद–अभिनव गुप्त ने शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के आधार पर रस का विवेचन किया है। इनका सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद के नाम से विख्यात है। शैवाद्वैत का सुदृढ़ आधार प्रदान कर अभिनवगुप्त ने रस को आनन्दमय सिद्ध किया। इन्होंने भरत के रससूत्र में अवस्थित संयोग शब्द का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध या प्रकाश्य-प्रकाशक किया और 'निष्पत्ति' का अभिव्यक्ति। इन्होंने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को मान्यता दी, पर उसे परिष्कृत रूप में ही ग्रहण किया। इनके अनुसार रस व्यंजना का परिणाम है, भावना का व्यापार नहीं। इन्होंने बताया कि रति आदि स्थायीभाव सामाजिक या सहृदय के हृदय में वासनारूप में विद्यमान रहते हैं। वे वासनात्मक संस्कार के रूप में सुषुप्तावस्था में रहते हैं, किन्तु काव्य के पठन या श्रवण अथवा नाटक के देखने से वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं अर्थात् काव्य एवं नाटक के सम्पर्क से विभावादिकों के साथ संयोग होने पर वासनारूप में विद्यमान स्थायी भावों की उद्‌बुद्धि हो जाती है और वे अभिव्यक्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े में गन्ध की पूर्वस्थिति होती है, पर जल के संयोग से वह प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिकों (दर्शकों) के हृदय में स्थित स्थायीभाव काव्यादि के श्रवण या नाटक के दर्शन से अभिव्यक्त होकर रसनीय बन जाते हैं। इन्होंने रस को व्यंग्य मानकर उसे ब्रह्मानन्दसहोदर स्वीकार किया है। ये रस की सहृदयनिष्ठता स्वीकार करते हैं अर्थात् इनके अनुसार रस की स्थिति एकमात्र सहृदय या सामाजिक में ही होती है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक अभिनव गुप्त का ही मत मान्य है।

●

काव्य-गुण

गुण का स्वरूप—रस के धर्म को गुण कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में शौर्यादि गुणों की स्थिति होती है, उसी प्रकार काव्य में रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म को गुण कहा जाता है। रस के साथ इनकी अचल स्थिति होती है और ये रसोत्कर्ष के कारण हैं। जहाँ रस रहता है, वहाँ गुण निश्चित रूप से रहते हैं और जहाँ रस नहीं होगा वहाँ गुण की स्थिति भी सम्भव नहीं है। शूरता एवं वीरता आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से न होकर आत्मा के साथ होता है। यदि आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध न होकर शरीर के साथ होता तो मृत्यु के पश्चात् भी इन गुणों को शरीर में विद्यमान रहना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं होता। मृत्यु होते ही मनुष्य के गुण तिरोहित हो जाते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ होता है कि आत्मा के अभाव में गुणों की स्थिति असम्भव है। इसी प्रकार का सम्बन्ध रस के साथ गुणों का है। रस काव्य की आत्मा या प्रधानभूत तत्त्व है, अतः इसके साथ गुण का सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। गुण के अभाव में अलंकारयुक्त होने पर भी काव्य आनन्दप्रद नहीं हो सकता। रमणी के शरीर पर सौन्दर्यादि गुणों के अभाव में हार जैसे भारस्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अलंकारों से युक्त होकर भी काव्य, गुण के बिना, आनन्ददायक नहीं हो सकता।

अलंकार और गुण—यद्यपि मुख्य रूप से गुण रस के धर्म हैं तथापि गौण रूप से वे शब्दार्थ के भी धर्म माने जाते हैं। निष्कर्ष यह कि गुण रस के धर्म हैं और काव्य में इनकी अचल स्थिति होती है। ये रस के उत्कर्षक या काव्य के शोभाधायक धर्म हैं। गुण और अलंकार में अन्तर यह है कि अलंकार काव्य के बाह्यशोभाकारक धर्म हैं तो गुण उसकी आत्मा की शोभा हैं। अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं, रस की भाँति नित्य नहीं। अलंकार और गुण दोनों ही काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं; किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ गुणों के द्वारा काव्यात्मकता का सन्निवेश होता है, वहाँ अलंकार उसे केवल उत्कृष्ट बना सकते हैं, उसमें बाह्य चाक्यचिक्य भर सकते हैं। अभिप्राय यह कि गुण काव्य के आंतर सौन्दर्य हैं तो अलंकार बाह्य शोभा-मात्र। अलंकारों के समावेश से काव्य की बाह्यशोभा भले ही बढ़ जाय; परन्तु गुणों के द्वारा तो उसकी आन्तरिक विभूति प्रकाशित हो उठती है। अलंकारों की स्थिति नीरस काव्य में भी सम्भव है; किन्तु गुण सदा सरस या रसयुक्त काव्य में ही स्थित रहता है। कारण यह

कि गुण रस के नित्यधर्म हैं, जहाँ रस होगा वहाँ गुणों की सत्ता अनिवार्य होगी और जब गुण रहेंगे तो रस को उत्कर्ष प्रदान करेंगे ही। गुण सदा रस का उपकार करते हैं; किन्तु अलंकारों के घटाटोप में काव्य का स्वारस्य नष्ट हो जाता है।

गुण और रस गुण और रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि रसों को ध्यान में रखकर ही गुणों का प्रयोग किया जाता है। कोमल भाव वाले रसों में कोमल और मधुर शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, यदि उनके स्थान पर कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाय तो रसास्वादन में बाधा उपस्थित हो जायगी। अतः मधुर भाव को द्योतित करने वाले रसों के रसत्व को सुरक्षित करने के लिए मधुर एवं कोमल वर्णों का प्रयोग आवश्यक है, इसलिए इन रसों में माधुर्य-गुण का व्यवहार होता है। रौद्र, बीभत्स एवं वीर रस में उग्र भावों की व्यंजना होती है, अतः इनमें ऐसे शब्दों का गुंफन होना चाहिए जो उग्रता के भाव को प्रकट करने में समर्थ हो सकें। ऐसी स्थिति में उग्र भाव वाले रसों की अभिव्यक्ति कठोर वर्णों के प्रयोग द्वारा ही सम्भव है। मधुर एवं उग्र भावों के अतिरिक्त कवि को शब्दों के संगठन पर भी ध्यान देना पड़ता है। कविता में एक हृदय के भाव को दूसरों तक पहुँचाना पड़ता है। अतः कवि इसका ध्यान रखता है कि वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करे, जो सरल, सुबोध एवं सर्वजन-सुलभ हों। इस कार्य के लिए कवि को प्रसाद-शैली का अवलम्ब लेना पड़ता है।

गुण के भेद—गुण के तीन प्रकार प्रधान हैं—माधुर्यगुण, ओजगुण और प्रसादगुण।

(१) माधुर्यगुण—जिस काव्य की रचना से अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाय, उसे माधुर्यगुण कहते हैं। इसमें मधुरता-व्यंजक शब्दों का प्रयोग होता है। माधुर्यगुण में मधुर वर्ण, सानुनासिक वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म,), छोटे-छोटे समास एवं कोमल वर्णों का प्रयोग होता है। यह गुण शृंगार, करुण एवं शान्त रसों में प्रयुक्त होता है। इनमें कठोर वर्ण एवं लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

उदाहरण—

(क) मंद-मंद चढ़ि चल्यौ चैत निसि चंद चारु,
मंद-मंद चाँदनी परसारत लसन तें
मंद-मंद जमुना तरंगिनि हिलोरै लेत,
मंद-मंद बहै मंजु मल्लिका सुमन तें॥
'देव' कवि मंद-मंद सीतल सुगन्ध पौन,
देखि छवि छीजत मनोज छन-छन तें॥
मंद-मंद मुरली बजावत अधर धरे,
मंद-मंद निकस्यौ मुकुन्द मधुबन तें॥

इसमें शृङ्गार रस है और मधुर तथा कोमल वर्णों के प्रयोग के कारण यहाँ माधुर्यगुण हुआ।

(ख) निरख, सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन भाये॥

(२) ओजगुण – जिस काव्य-रचना के श्रवण करने से चित्त का विस्तार नएवं मन में तेज उत्पन्न हो, वह ओजगुण है। ओजगुण से युक्त रचना के आस्वाद से चित्त में दीप्ति एवं आवेग की उत्पत्ति होती है। इसका प्रयोग वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में होता है। इसमें संयुक्त वर्ण, द्वित्व वर्ण, रेफ, कठोर वर्ण, लम्बे-लम्बे समास और ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण—

वारि टारि डारौं कुम्भकर्णहिं बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादहू तो असबल अनंत हौं।
कहैं 'पद्माकर' त्रिकूट हू को ढाहि डारौं,
डारत करत जातुधानन कौ अंत हौं॥
अच्छहिं निरच्छ कपि भालु ह्वै उच्चारौं इमि,
तो से तुच्छ तुच्छन कौ कछुहू न गंत हौं।
जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपबन,
फारि डारौं रावन तौ हौं हनुमंत हौं॥

यहाँ हनुमान् जी के क्रोध-वर्णन में ओजगुण की अभिव्यक्ति हुई है।

(३) प्रसादगुण––सूखे ईंधन में अग्नि की भाँति और सूखे वस्त्र में जल की तरह शीघ्र ही चित्त में व्याप्त हो जाने वाले गुण को प्रसादगुण कहते हैं।

इसका प्रयोग सभी रसों में होता है। इसमें सरल और बोधगम्य शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनके श्रवण-मात्र से ही अर्थ को प्रतीति हो जाती है।

उदाहरण––

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चंद।
शून्य होते भरने को मेघ, दीप जलता होने को मंद।
यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर यौवन॥

—महादेवी।

इसमें सरल और बोधगम्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह प्रसादगुण की कविता है।

काव्य-दोष

दोष का स्वरूप—काव्यास्वाद के बाधक या विघातक तत्त्व को दोष या काव्य-दोष कहते हैं। ये काव्यास्वादन के समय उत्पन्न होने वाले उद्वेग हैं। इसे रसापकर्षक भी कहा जाता है। गुण काव्य की संपत्ति हैं और दोष विपत्ति। दोष के कारण काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसे काव्यानन्द का उद्वेगजनक तत्त्व कहा गया है। आ०[1] मम्मट के अनुसार काव्य का मुख्य अर्थ रस है और मुख्य अर्थ के अपकर्षक को दोष कहते हैं। विश्वनाथ[2] ने रसापकर्षक या रस के बाधक तत्त्व को दोष कहा है।

कवि का अभिप्रेत मुख्य अर्थ ही होता है अर्थात् कवि जिस अभिप्राय से कुछ कहना चाहता है, उसे मुख्यार्थ कहते हैं। इस अर्थ में किसी कारणवश बाधा उपस्थित हो जाय तो उसे दोष कहेंगे। काव्य में मुख्य अर्थ तो रस है, परन्तु कभी-कभी उसका आश्रित वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है अर्थात् नीरस काव्य में भी दोष होता है। यदि रस में किसी प्रकार से अनौचित्य उपस्थित हो गया तो वहाँ दोष आ जायगा।

दोष के भेद—दोष के मुख्य तीन भेद माने गए हैं—शब्ददोष, अर्थदोष एवं रसदोष। काव्य में रस का प्राधान्य होने के कारण रस-दोष की मुख्यता है। रस का बोध अर्थ के द्वारा होता है और अर्थ का ज्ञान शब्द पर आश्रित है। अतः शब्द और अर्थ-दोष रस-दोष से गौण हैं। दोषों की कुल संख्या ७० मानी गयी है—शब्द-दोष ३७, अर्थ-दोष २३ एवं रस-दोष १०। यहाँ मुख्य दोषों का वर्णन किया जायगा।

शब्द-दोष—वाक्यार्थ की प्रतीति में जो दोष प्रथम-प्रथम उपस्थित हों उन्हें शब्द-दोष कहते हैं। ये १६ हैं—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील (तीन प्रकार के), संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमति कृत। यहाँ प्रसिद्ध दोषों का वर्णन किया जायगा।

---

१. मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्याः॥

२. रसापकर्षा दोषाः। साहित्यदर्पण, ७।१—काव्यप्रकाश, ७।४९

(१) श्रुतिकटु—कर्णकटु या कानों को कठोर लगने वाली रचना में श्रुतिकटु दोष होता है। ये अक्षर कठोर होने के कारण कानों में खटकते हैं। पर, वीर या भयानक रस में कर्णकटु शब्द दोष-युक्त न होकर गुण बन जाते हैं।

जैसे;

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता॥

इस कविता में 'विषयोत्कृष्टता' एवं 'विचारोत्कृष्टता' शब्द कर्णकटु हैं।

(२) च्युतसंस्कार—यदि व्यारण-विरुद्ध शब्दों का काव्य में प्रयोग किया जाय तो च्युतसंस्कार दोष होगा। च्युतसंस्कार का अर्थ है व्याकरण के नियमों से गिर जाना।

उदाहरण—

प्रेम-शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता।

यहाँ 'पाशवता' शब्द में च्युतसंस्कार दोष है जो व्याकरण के विरुद्ध है। पाशवता के स्थान पर पशुता होना चाहिए था। च्युतसंस्कार का नाम च्युतसंस्कृति भी है। पर, गँवारी भाषा के काव्य में च्युतसंस्कार दोष नहीं माना जाता।

(३) अप्रयुक्त—व्याकरण, कोष आदि से सिद्ध होने पर भी अर्थात् शुद्ध होकर भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो कि काव्य में अप्रचलित हों, तो वहाँ अप्रयुक्त दोष होगा।

उदाहरण—

देवे ससंभ्रम पटांत उघारि कैसे।
नारी नई कुचन में प्रिय-हस्त जैसे॥

यहाँ 'कुच' का प्रयोग स्त्रीलिंग में हुआ है, जो अप्रयुक्त दोष है। यमक आदि की योजना में अप्रयुक्त दोष नहीं होता।

(४) असमर्थ—जिस अर्थ को प्रकट करने के लिए जो शब्द रखा गया हो यदि उससे उस अर्थ की प्रतीति न हो सके तो असमर्थ दोष होता है।

उदाहरण—

सीय-स्वयंवर मैं जुरे, नरपति सुभग बिसाल।
धनु न टर्‌यौ बोल्यौ निरखि, तब अनंग महिपाल॥

यहाँ 'अनंग' शब्द का प्रयोग विदेह या राजा जनक के लिए हुआ है क्योंकि वे विदेह कहे जाते थे। विदेह के समानार्थी अनंग शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है, पर वह (अनंग) कामदेव का बोधक है, अतः यहाँ असमर्थ दोष हुआ।

(५) निहितार्थ—जिस शब्द के दो अर्थ हों और यदि उसका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाय तो निहितार्थ दोष होगा।

उदाहरण —

चपला यह रहिहैं नहीं, देखु हरिहिं चित लाय।
यहि मकरध्वज तरन कों, नाहिन और उपाय॥

यहाँ चपला का प्रयोग लक्ष्मी के लिए एवं मकरध्वज का समुद्र के लिए हुआ है, पर दोनों ही अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

(६) निरर्थक—छन्द के चरण की पूर्ति के लिए यदि अनावश्यक शब्द प्रयुक्त हों तो निरर्थक दोष होगा।

उदाहरण—

देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो अहो।

यहाँ 'अहो' का निरर्थक प्रयोग हुआ है।

अर्थदोष

यदि कविता में निहित अर्थ से अभीष्ट अभिप्राय की प्रतीति न हो, तो अर्थ-दोष होता है। अर्थदोषों की संख्या २३ है—

अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्या-विरुद्ध, अनवीकृत, सनियम परिवृत्त, अनियम परिवृत आदि। यहाँ मुख्य भेदों का उल्लेख किया जायगा।

(१) अपुष्ट—कविता में जब ऐसे शब्द प्रयुक्त हों कि जिनके न रहने पर भी अर्थ को क्षति न पहुँचे, तो अपुष्ट दोष होता है।

उदाहरण—

उयो अति बड़े गगन मैं, उज्ज्वल चारु मयंक।
मान मानिनी मोचिबे, हेतु मनहु इक-अंक॥

यदि यहाँ 'अति बड़े' और 'उज्ज्वल' शब्द न भी रहें तो अर्थ में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। ये व्यर्थ के शब्द हैं।

(२) कष्ट—जब अर्थ की प्रतीति अत्यन्त कठिनता से हो तो कष्ट-दोष होगा। इस दोष की स्थिति दुरूह अर्थ में होती है।

उदाहरण—

तो पै बारौं चार मृग, चार बिहँग, फल चार॥

यहाँ नायिका के ऊपर चार पशु - नेत्र पर मृग, घूँघट पर घोड़ा, चाल या गति पर हाथी और कटि पर सिंह—चार पक्षी—वाणी पर कोयल, गर्दन पर

कपोत (कबूतर), केश पर मोर तथा नाक पर कीर (सुग्गा)—एवं चार फल—दाँत पर अनार, स्तन पर श्रीफल (बेल), अधर पर बिम्बफल तथा कपोल पर मधूक-को न्यौछावर करने की बात कही गयी है। यह अर्थ अत्यन्त कठिनता से ज्ञात होता है, अतः यहाँ कष्ट या कष्टार्थ दोष हुआ।

(३) व्याहत—जब किसी पदार्थ के महत्त्व का कथन कर पुनः उसकी हीनता प्रदर्शित की जाय तो व्याहत-दोष होगा। इसमें कभी हीनता प्रदर्शित कर उस पदार्थ का महत्त्व दिखलाया जाता है।

उदाहरण—

चंदमुखी के बदन-सम, हिमकर कह्यौ न जाय।
कमलदृगी के नैन सम, कंज न एकौ भाय॥

यहाँ नायिका को चंदमुखी कहकर पुनः उसके मुख के समान चन्द्रमा नहीं है, ऐसा कहने में पहले महत्त्व दिखलाकर चन्द्रमा का तिरस्कार करने में व्याहत-दोष है। इसी प्रकार कमलनैनी के नेत्र के समान कमल को नहीं कहने में भी व्याहत-दोष है।

(४) पुनरुक्त—एक बार कथित अर्थ फिर से प्रयुक्त हो या एक ही शब्द और अर्थ की बार-बार आवृत्ति हो तो पुनरुक्त दोष होगा।

उदाहरण—

मृदु बानी मीठी लगै बात कबिन की उक्ति।

स्पष्ट है।

(५) दुष्क्रमत्व—जब लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध क्रमों का उल्लंघन किया जाय तो दुष्क्रमत्व दोष होता है।

उदाहरण—

बर बाजी कै बारनें, दैहैं रीझि दयाल॥

राजा प्रसन्न होकर घोड़ा या हाथी देंगे। लोक में हाथी कहने के बाद घोड़ा कहने का क्रम है, पर यहाँ उसे उलट दिया गया है, अतः दुष्क्रमत्व दोष हुआ।

(६) ग्राम्य—जब कविता में ग्राम्यभाषा का प्रयोग हो तो, ग्राम्य-दोष होगा। भद्दे या अशिष्ट व्यक्तियों में ही ग्राम्य शब्द प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण—

हौं सोवत इत आप तू, मेरे नेरे सोय॥

इस उक्ति में ग्राम्यत्व या अभद्रता है।

रस-दोष

रसास्वाद के बाधक तत्वों को रस-दोष कहते हैं। यदि रसास्वाद में किसी प्रकार की त्रुटि आ जाय या उसमें व्यवधान पड़ जाय तो यह स्थिति उद्वेगजनक हो जाती है। रस वाच्य न होकर सदा व्यंग्य होता है और इसकी सफलता विभावादि के उपयुक्त प्रयोग पर निर्भर करती है।

रस-दोष का विवरण इस प्रकार है--

(१) व्यभिचारी भाव, रस तथा स्थायीभाव का स्वशब्द से कथन--

(२) अनुभाव एवं विभाव की कष्ट कल्पना--

(३) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण—

(४) रस की पुनः पुनः दीप्ति—

(५) अकांड प्रथन—

(६) अकांड छेदन—

(७) अंगभूत रस का अधिक विस्तार—

(८) अंगी का अननुसंधान—

(९) प्रकृति-विपर्यय—

(१०) अनंग-वर्णन—

(१) **स्वशब्दवाच्यता**--यदि रस, व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव को उनके वाचक शब्दों से ही कहा जाय तो स्वशब्दवाच्यता दोष होगा। रस का आस्वाद व्यंजना से ही होना चाहिए, क्योंकि वह सदा व्यंग्य होता है। यदि किसी रस का नाम ले लिया जाय तो वहाँ रसास्वादन में व्यवधान हो जायगा।

उदाहरण—

जानि गौरि अनुकूल, सिय हिय हर्ष न जात कहि।

यहाँ हर्ष संचारी का नाम आ जाने से स्वशब्दवाच्यता दोष हुआ।

(२) **विभाव-अनुभाव की कष्टकल्पना**—यदि किसी रस में विभावानुभाव की योजना स्वाभाविक रूप से न होकर यह निश्चय न हो कि किस रस का विभाव है और किस रस का अनुभाव तो वहाँ दोष होता है।

उदाहरण—

उठति गिरति गिर-गिर उठति, उठि-उठि गिर-गिर जाति।
कहा कहौं कासों कहौं, क्यों जीवै यह राति॥

यहाँ यह निश्चित नहीं होता कि सखी द्वारा विरह-निवेदन है या किसी की मृत्यु के कारण करुण-स्थिति का वर्णन है।

(३) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण—जिस रस की जो सामग्री हो, यदि उसके विरोधी रस का वर्णन किया जाय तो यह दोष होगा।

(४) रस की पुनः पुनः दीप्ति—यदि किसी रचना में किसी रस का बार-बार उद्दीपन हो या उसका वर्णन किया जाय, तो यह रस-दोष होगा। काव्य में किसी रस का वर्णन प्रसंगानुसार होना चाहिए। प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् उस रस का वर्णन करने में दोष आ जाता है।

(५) अकांड प्रथन—अनुचित स्थान में किसी रस का विस्तार दिखाया जाय तो अकांड प्रथन दोष होगा।

(६) अकांड छेदन—यदि असमय में ही किसी रस का विच्छेद (भंग) कर दिया जाय तो वहाँ अकांड छेदन होगा।

(७) अंगभूत रस का अति विस्तार—यदि किसी अप्रधान या गौण रस का अति विस्तार के साथ वर्णन किया जाय तो उक्त दोष होगा।

(८) अंगी का अननुसंधान—किसी रचना में अंगी या प्रधान नायक-नायिका की विस्मृति को अंगी का अननुसंधान कहते हैं।

(९) प्रकृति-विपर्यय—यदि काव्य में निरूपित नायक के भेदों का विपरीत वर्णन किया जाय तो प्रकृति-विपर्यय दोष होगा।

(१०) अनंग-वर्णन—जो रस वर्णन का अंग न हो यदि उसका वर्णन किया जाय तो अनंग-वर्णन दोष होगा।

●

अलंकार

काव्य के शोभाकारकधर्म को अलंकार कहते हैं। इसके द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है। जिस प्रकार आभूषण या अलंकार के पहनने से कोई सुन्दरी अधिक सौन्दर्यवती हो जाती है, उसी प्रकार काव्य में अलंकारों के समावेश से उसका चमत्कार या बाह्य सौन्दर्य बढ़ जाता है। अलंकार कथन की एक शैली या रचना का चमत्कारिक ढंग है। यह 'अलम्' और 'कार' इन दो शब्दों के योग से बना है जिसका अर्थ है शोभाकारक पदार्थ। अलंकार काव्य को विभूषित करता है या यह काव्य का शोभाकारक तत्त्व है। अलंकारों के द्वारा न केवल वाणी की सजावट होती है, बल्कि वे भाव की विशेष अभिव्यक्ति के साधन भी बन जाते हैं। इनके प्रयोग से काव्य में रमणीयता आती है और वह प्रभावोत्पादक भी बन जाता है।

अलंकार के मुख्य तीन भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार या मिश्रालंकार। जब शब्द में चमत्कार हो तो शब्दालंकार होता है अर्थात् शब्दालंकार का चमत्कार शब्दगत होता है। जब अर्थ में चमत्कार हो तो अर्थालंकार होगा, पर जब शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार हो तो उभयालंकार या मिश्रालंकार होता है। शब्दालंकार और अर्थालंकार में अन्तर यह है कि जब शब्द के परिवर्त्तन करने से चमत्कार नष्ट हो जाय तो शब्दालंकार होगा और शब्द के बदलने से चमत्कार बना रहे तो वहाँ अर्थालंकार होगा। शब्दालंकार के दस भेद हैं और अर्थालंकार के एक सौ तथा उभयालंकार दो प्रकार का होता है, पर यहाँ कुछ प्रसिद्ध भेदों का वर्णन किया जा रहा है। शब्दालंकारों में मुख्य हैं—अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास और यहाँ उन्हीं का वर्णन होगा। अर्थालंकारों में प्रमुख चालीस अलंकारों का विवेचन किया गया है।

●

शब्दालंकार

(१) अनुप्रास

जहाँ व्यंजनों की समता हो, उनके स्वर मिलें अथवा नहीं, तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।

'अनुप्रास' शब्द 'अनु' + 'प्र' + 'आस' के योग से बना है, जिसका अर्थ है अनुकूल या बार-बार (अनु) प्रकर्ष या निकटता से (प्र) रखना या विन्यास करना (आस)। इस अलंकार में व्यंजनों की बार-बार आवृत्ति होती है, पर उनके स्वर (मात्रा) समान नहीं होते; वे भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। व्यंजन-सादृश्य या व्यंजनों की समता अनुप्रास की अनिवार्य शर्त है। इसमें शब्द के आदि या अन्त में व्यंजन का साम्य दिखलाया जाता है।

उदाहरण के लिए 'अब चित चेत चित्रकूट चलहु' इस पद्य को लिया जा सकता है। इसमें च की अनेक बार आवृत्ति हुई है, पर चित, चेत, चित्रकूट और चलहु में इकार, एकार, इकार और अकार की मात्रा है। अभिप्राय यह कि अनुप्रास में व्यञ्जनों की आवृत्ति हो, किन्तु स्वरों की मात्रा में अन्तर भी रहे तो अलंकारत्व या चमत्कार नष्ट नहीं होता। इस अलंकार में वर्ण-विन्यास रसानुकूल या वर्णनीय रस के अनुसार होना चाहिए।

उदाहरण—

बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

—रामायण।

यहाँ प्रथम पंक्ति में पद, पदुम और पराग में 'प' की आवृत्ति हुई है और सुरुचि, सुबास तथा सरस में 'स' की। अतः यह चौपाई अनुप्रास का उदाहरण हुई।

अनुप्रास के भेद—अनुप्रास के पाँच भेद हैं—छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास। इनमें प्रथम तीन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

(क) छेकानुप्रास—जब अनेक व्यञ्जनों या व्यञ्जन-समुदाय की स्वरूप एवं क्रम से एक बार आवृत्ति हो तो छेकानुप्रास होगा।

'छेक' का अर्थ है चतुर। चतुरजनों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं। इस अलंकार में अनेक व्यञ्जनों की स्वरूपतः एवं क्रमतः एक बार

आवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए रस और सर को लिया जा सकता है। दोनों का स्वरूप एक ही है, र और स, पर क्रम एक नहीं है। रस में 'र' के बाद 'स' आया है तो सर में 'स' के बाद 'र'। क्रम ठीक नहीं रहने से यहाँ छेकानुप्रास नहीं होगा। पर 'कमल' और 'कोमल' में इस अलंकार का रूप देखा जा सकता है, क्योंकि दोनों में ही स्वरूप एवं क्रम की—कमल एवं कोमल—एकता है। यदि हम कोमल से मात्रा या स्वर को हटा दें तो दोनों में कमल रह जायगा। इस प्रकार स्वरूप एवं क्रम की एकता के कारण यहाँ छेकानुप्रास होगा।

उदाहरण—

राधा के बर बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाख दुखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥

यहाँ 'दाख' और 'दुखी' में छेकानुप्रास है। दोनों की मात्राओं को हटा दें तो 'दख' रह जायगा। दोनों का स्वरूप एवं क्रम एक ही है, अतः दाख और दुखी में छेकानुप्रास हुआ। यहाँ अनेक व्यञ्जनों—द और ख—की एक ही बार स्वरूपतः और क्रमशः आवृत्ति हुई है।

उदाहरण—

बाल-बेलि सूखी सुखद, इहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिए, सुरस सींचि घनस्याम॥

—बिहारी।

यहाँ बाल-बेलि, सूखी-सुख तथा रूखे-रुख में ब, ल, स, ख, एवं र, ख, की स्वरूप एवं क्रम से आवृत्ति हुई है। अनेक व्यञ्जनों—एक से अधिक को अनेक कहेंगे—की एक बार आवृत्ति होने के कारण इसमें छेकानुप्रास हुआ।

(ख) लाटानुप्रास—शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति में तात्पर्यमात्र के भेद को लाटानुप्रास कहते हैं।

लाट गुजरात का प्राचीन नाम है अर्थात् इसका अर्थ गुजरात है। लाटजनों या गुजरात के लोगों को प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहते हैं। लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ एक ही होते हैं, और उनकी आवृत्ति भी होती है, पर अन्वय करने पर उनका तात्पर्य बदल जाता है।

उदाहरण—

राम हृदय जाके बसै, बिपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं, बिपति सुमंगल ताहि॥

जिसके हृदय में राम बसते हैं, उसके लिए विपत्ति भी सुमंगल हो जाती है और जिसके हृदय में राम नहीं बसते उनके लिए सुमंगल भी विपत्ति हो जाता है।

यहाँ दोहे की दोनों पंक्तियों के शब्द और अर्थ एक ही हैं और उनकी आवृत्ति भी हुई है, पर अन्वय करने पर उनका तात्पर्य बदल गया है।

वे घर हैं बन ही सदा, जहँ है बंधु-वियोग।
वे घर हैं बन ही सदा, जहँ नहिं बंधु-वियोग॥

यहाँ कहा गया है कि जिस घर में भाइयों में विरोध रहता है, वे घर भी सदा वन की तरह हो जाते हैं और जहाँ भाइयों में विरोध नहीं होता वे वन भी घर हो जाते हैं। यहाँ शब्द और अर्थ के होने एवं उनकी आवृत्ति होने पर भी अन्वय करने से उनका तात्पर्य बदल गया है।

(ग) **वृत्त्यनुप्रास**—वृत्तिगत एक वर्ण की अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है।

वृत्ति का अर्थ है प्रत्येक रस के अनुकूल वर्णों या अक्षरों का विन्यास (रखना) अर्थात् यदि श्रृंगार रस की रचना हो तो उसमें मधुर वर्णों का प्रयोग हो और वीर रस की रचना में कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाय। इस अलंकार में रस के अनुकूल एक वर्ण की या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होती है।

उदाहरण—

क—धर्म धुरीन धीर नयनागर।
सत्य सनेह सील सुखसागर॥

—रामायण।

यहाँ 'ध' की अनेक बार और 'स' की अनेक बार आवृत्ति हुई हैं।

ख—पुलकित पलक पसार अपार। —पंत।

ग—गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में॥

—पंत।

यहाँ 'ग' की अनेक बार आवृत्ति हुई है।

(२) यमक

सार्थक होने पर भी भिन्न अर्थ वाले वर्ण-समुदाय की क्रमशः आवृत्ति या पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।

यमक का अर्थ दो या जुड़वाँ है। इसमें वर्णों या अक्षरों की आवृत्ति कम-से-कम दो बार अवश्य होनी चाहिए। यमक अलंकार में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनके एक से अधिक या दो अर्थ होते हैं। इसमें सार्थक वर्णों के अतिरिक्त निरर्थक वर्णों की भी आवृत्ति होती है।

उदाहरण—

(क) तो पर बारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ उर्वशी (उरबसी) शब्द की तीन बार आवृत्ति हुई है और तीनों बार उसके अर्थ बदल गए हैं। कवि कहता है कि हे चतुर राधिके! मैं तुम्हारे ऊपर स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को न्यौछावर करता हूँ; क्योंकि तू माला के बीच लटकने वाले पदिक (उरबसी) की भाँति मोहन या कृष्ण के हृदय में बसी हुई (उरबसी) है। यहाँ प्रथम उर्वशी का अर्थ अप्सरा, द्वितीय का अर्थ हृदय में बसी हुई एवं तृतीय का अर्थ पदिक या गहना है। अतः एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति होने एवं बार-बार उसका अर्थ बदल जाने के कारण यहाँ यमक अलंकार हुआ।

(ख) अंगना मैं दिखाती तऊ अंगना अँगना हमरी उनइसी परैं।

किसी नई दुलहिन का कथन है कि मैं अपना अंग नहीं दिखाती, फिर भी स्त्रियाँ मेरे आँगन में आकर छायी रहती हैं। यहाँ अंगना शब्द की तीन बार आवृत्ति हुई है। प्रथम अंगना का अर्थ है अंग नहीं, द्वितीय का स्त्रियाँ और तृतीय का आँगन। यहाँ एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति हुई है और उसके अर्थ भी बदल गए हैं, अतः यमक अलंकार हुआ।

(ग) तरणि के ही साथ तरल तरंग में।
तरणि डूबी थी हमारी ताल में॥

यहाँ 'तरणि' शब्द की दो बार आवृत्ति हुई है और इसके दो अर्थ हो गए हैं। प्रथम तरणि का अर्थ सूर्य है और द्वितीय का नौका या नाव।

यमक अलंकार में कभी-कभी पूरे वाक्य की आवृत्ति होती है और उसके अर्थ बदल जाते हैं। इसे वाक्यावृत्ति कहते हैं।

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाति हैं।
कन्दमूल भोग करैं, कन्दमूल भोग करैं
तीन बेर खाती सो तो तीन बेर खाती हैं॥

यहाँ वाक्यों की आवृत्ति हुई है और उनके अर्थ भी बदल गए हैं। ऊँचे घोर मन्दिरों या राजप्रासादों में रहने वाली स्त्रियाँ अब ऊँची-ऊँची भयंकर गुफाओं या पर्वत की कन्दराओं (खोहों) में रहती हैं। मेवा-मिष्ठान्न खाने वाली अब जड़ी-बूटी या कन्द-मूल खाकर रह जाती हैं और तीन बार (प्रातः,

दोपहर, शाम) खाने वाली अब तीन बेर (बैर, एक प्रकार का फल) खाकर ही रह जाती हैं।

यमक और लाटानुप्रास—दोनों में ही शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होती है, पर इनमें अन्तर यह है कि लाटानुप्रास में एकार्थक (एक अर्थ वाले) शब्दों की आवृत्ति होती है, पर यमक में भिन्न अर्थ वाले शब्दों की आवृत्ति होती है।

(३) श्लेष

श्लिष्ट शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों के कथन को श्लेष अलंकार कहते हैं।

श्लेष का अर्थ है चिपका हुआ या सटा हुआ। इस अलंकार में ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनमें एक से अधिक अर्थ चिपके हुए हों। श्लिष्ट शब्द का अर्थ अनेक अर्थों वाले शब्दों से है। श्लेष अलंकार में अनेक अर्थ वाले शब्दों से अर्थात् श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का कथन किया जाता है।

उदाहरण—

(क) अजौं तरचौना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि रह्यौ, बसि मुकतन के संग॥

—बिहारी।

यहाँ तरचौना, स्रुति, नाक, बास और मुकतन शब्द में श्लेष है। तरयौना का अर्थ कर्णफूल या कान का एक गहना है और दूसरा अर्थ नहीं तरा, स्रुति का अर्थ है वेद और कान, नाक का अर्थ नाक (एक अंग-विशेष) और स्वर्ग, बास का अर्थ रहना (निवास) और सुगंधि तथा मुकतन का अर्थ मोती एवं सत्संगी या मुक्ति दिलाने वाला है। इस दोहे के दो अर्थ हैं। प्रथम शृंगारी है और दूसरा नीतिप्रधान।

प्रथम अर्थ के अनुसार कान के पास सदा लटकते हुए या रहते हुए भी कर्णफूल नहीं तरा, उसे कोई लाभ नहीं हुआ, पर मोती (मुकतन) के साथ रहने से बेसरि (नकबेसर नामक एक गहना) को नायिका को नाक की सुगन्धि मिली। यहाँ नकबेसर को कर्णफूल से अधिक महत्त्व दिया गया है।

द्वितीय अर्थ के अनुसार अभी तक वेदाध्ययन या वेद के पढ़ने से कोई नहीं तरा अर्थात् किसी को मुक्ति नहीं मिली। सत्संगियों या मुक्ति दिलाने वालों के साथ रहने से अवश्य ही स्वर्ग की प्राप्ति हो जायगी।

(ख) रावन सिर सरोज बन चारी।
चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥—रामायण।

यहाँ 'सिलीमुख' शब्द में श्लेष है जिसका अर्थ बाण और भौंरा है। रावण के सिररूपी कमल के वन में श्रीरामचन्द्र जी के बाण भौंरे होकर घुस गये।

(४) वक्रोक्ति

वक्ता के अन्यार्थक वाक्य का यदि श्रोता काकु या श्लेष के द्वारा अन्य अर्थ कर दे तो वक्रोक्ति अलंकार होगा।

'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है वक्र या टेढ़ा कथन (उक्ति)। इस अलंकार में वक्ता या कहने वाले के भिन्न अभिप्राय का श्रोता भिन्न अर्थ कर देता है। वक्ता जिस अभिप्राय से कोई बात कहे और श्रोता श्लिष्ट शब्दों के द्वारा या काकु उक्ति से उसका भिन्न अर्थ कर दे तो वक्रोक्ति अलंकार होगा। काकु का अर्थ है कंठ-ध्वनि-विकार अर्थात् कंठ की ध्वनि में परिवर्तन करना। इसमें वक्ता कंठ की आवाज या ध्वनि में परिवर्त्तन कर अन्य अर्थ करता है और श्लेष का अर्थ अनेक अर्थ वाला शब्द है। वक्रोक्ति अलंकार में वक्ता श्लिष्ट या अनेक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग कर अन्य अर्थ की कल्पना करता है।

उदाहरण—

को तुम ? 'हरि' प्यारी ? कहा बानर को पुर काम ?
'स्याम' सलोनो, स्याम कपि ? क्यों न डरै तव बाम ॥

कृष्ण ने राधिका का द्वार खटखटाया तो राधा ने कहा कि तुम कौन हो ? इस पर कृष्ण ने कहा कि प्यारी ! मैं हरि (कृष्ण एवं बन्दर) हूँ। हरि का अर्थ वक्ता अर्थात् कृष्ण ने श्रीकृष्ण किया, पर श्रोता अर्थात् राधिका ने उसका अर्थ बन्दर कर कहा कि बन्दर का नगर या पुर में कोई काम नहीं है। यहाँ 'हरि' शब्द श्लिष्ट है और इसके द्वारा वक्ता के भिन्न अभिप्राय का श्रोता भिन्न अर्थ करता है।

वक्रोक्ति के भेद—वक्रोक्ति के दो भेद हैं—

श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति।

(क) श्लेष वक्रोक्ति—जब श्लिष्ट या अनेकार्थवाची (अनेक अर्थ वाले) शब्दों के द्वारा वक्ता के भिन्न अभिप्राय का श्रोता भिन्न अर्थ कर दे तो श्लेष वक्रोक्ति होगी।

उदाहरण—

मान तजो गहि सुमति बर, पुनि पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोग को, मोहि न जोग सनेह ॥

वक्ता कहता है कि हे वर, सुन्दर बुद्धि को ग्रहण कर (सुमति गहि) मान का त्याग करो (मान तजो)। इस पर श्रोता ने इसका अन्य अर्थ करते हुए उत्तर दिया कि सुन्दर मति वाले लोग योग को मानते हैं (मानत जोगहि सुमति बर) इस पर श्रोता ने वक्ता के शब्दों को तोड़कर कहा कि योगी लोग योग को मानते हैं, मुझे योग से किसी प्रकार का स्नेह नहीं है। यहाँ 'मानत जोगहि' शब्द में श्लेष वक्रोक्ति है और इसको टुकड़े कर कई अर्थ किये गए हैं।

(ख) काकु वक्रोक्ति--जब काकु या कण्ठ की ध्वनि के विकार (परिवर्त्तन) से वक्ता के भिन्न अर्थ को श्रोता उलट दे अर्थात् उसका भिन्न अभिप्राय कर दे तो काकु वक्रोक्ति अलंकार होगा।

उदाहरण--

जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं।
तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं। —साकेत।

यहाँ राम के प्रति लक्ष्मण की उक्ति है कि जब रामचन्द्र जी पिता के आदेश का पालन कर सकते हैं तो माँ की आज्ञा को भरत कैसे टालेंगे ? अर्थात् नहीं टालेंगे। इसमें वक्ता के कथन को काकु के द्वारा उलट दिया गया है।

हौं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥ —रामायण।

यहाँ रामचन्द्र के प्रति सीता की उक्ति है। वे कहती हैं कि मैं सुकुमारी हूँ और आप वन के योग्य हैं। आपके लिए तप करना उचित है और मेरे लिए भोग। पर वक्ता का यह अभिप्राय नहीं है। यहाँ कण्ठ की ध्वनि के विकार से यह अर्थ होगा कि न तो मैं सुकुमारी हूँ और न आप वन के योग्य हैं। न तो आपके लिए तपस्या करना उचित है और न मेरे लिए भोग करना ठीक है।

(५) पुनरुक्तवदाभास

जहाँ वास्तविक पुनरुक्ति न होकर पुनरुक्ति का आभासमात्र हो, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।

'पुनरुक्तवदाभास' शब्द का अर्थ है पुनरुक्ति के समान आभास या झलक। इस अलंकार में वास्तविक पुनरुक्ति न होकर उसकी झलक-मात्र होती है। इसमें ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जो भिन्न रूप वाले और भिन्न अर्थ वाले होते हैं, पर उनमें एकार्थता का आभास होता है। ऊपर-ऊपर से पुनरुक्ति-सी जान पड़ती है, पर अर्थ का ज्ञान होने पर, पुनरुक्ति का अन्त हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह कि पुनरुक्तवदाभास अलंकार में पुनरुक्ति की प्रतीति सत्य न होकर मिथ्या होती है। जैसे कहा जाय कि 'उसने हाथ में कर दे दिया' तो यहाँ पुनरुक्तवदाभास

अलंकार होगा। हाथ और कर की यहाँ सहसा पुनरुक्ति जान पड़ती है, पर कर का अर्थ मालगुजारी कर देने पर पुनरुक्ति दूर हो जायगी। इसका अर्थ हुआ कि हाथ में मालगुजारी दे दी। यहाँ वास्तविक पुनरुक्ति न होकर उसका आभास-मात्र है।

उदाहरण—

(क) अली भौंर गुंजन लगे, होन लगे दल-पात।
जहँ-तहँ फूले रूख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात॥ —दास।

अपने प्रिय के वसन्त ऋतु में परदेश जाने पर कोई स्त्री अपनी सखी से कहती है। सखि! भौंरे गुंजार कर रहे हैं और पेड़ों की पत्तियाँ गिर रही हैं अर्थात् पतझर हो रहा है। यत्र-तत्र ठूँठें वृक्ष भी फूल गए हैं, ऐसे समय में अर्थात् वसन्त ऋतु में प्रिय पति क्यों जा रहे हैं! यहाँ अली और भौंर दोनों का अर्थ भ्रमर या भौंरा, दल और पात का पत्तो, रूख, तरु का वृक्ष एवं प्रिय तथा प्रीतम (प्रियतम) का अर्थ पति है। यह अर्थ ऊपर-ऊपर से ज्ञात होने पर पुनरुक्ति-सा लगता है। पर, अली का अर्थ सखी और भौंर का अर्थ भ्रमर, दल का अर्थ पत्ती और पात का अर्थ गिरना, रूख का अर्थ रूक्ष या ठूँठ एवं तरु का अर्थ वृक्ष तथा प्रिय का अर्थ प्रिय एवं प्रियतम का अर्थ पति करने पर पुनरुक्ति हट जाती है। यहाँ वास्तविक पुनरुक्ति न होकर उसकी छाया-मात्र है।

(ख) समय जा रहा और काल है आ रहा।
सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा॥ —गुप्त जी।

यहाँ समय और काल दोनों का अर्थ समय है जो ऊपर-ऊपर से पुनरुक्ति-सा ज्ञात होता है, पर काल का अर्थ मृत्यु कर देने पर पुनरुक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ कि समय बीतता जा रहा है और काल या मृत्यु का आगमन हो रहा है।



अर्थालंकार

(१) उपमा

जब समान धर्म या गुण की समानता के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु के समान कही जाय तो वहाँ उपमा अलंकार होता है।

'उपमा' शब्द उप और मा इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ है निकट (उप) रखकर तौलना (मा, माप)। इस अलंकार में किसी प्रकार की सधर्मता के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु के समान कही जाती है। उपमालंकार में दो वस्तुओं को समीप रखकर तुलना की जाती है या एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है। इसके चार अंग हैं— उपमेय, उपमान वाचक और धर्म। जिसकी तुलना की जाय या जिसकी समानता दिखायी जाय उसे उपमेय कहते हैं। जिसके साथ उपमेय की तुलना की जाय या जिससे उपमेय की समानता स्थापित की जाय उसे उपमान कहते हैं। उपमान, उपमेय की अपेक्षा अधिक सुन्दर या बड़ा होता है और उपमेय उससे न्यून गुण का होता है। इसी कारण उपमेय की तुलना उपमान से की जाती है। धर्म का अर्थ है गुण। जिस गुण के कारण उपमेय की समता उपमान से की जाती है, उसे धर्म कहते हैं। इसका अन्य नाम साधारण धर्म भी है। वाचक उन शब्दों को कहते हैं जो उपमान के साथ उपमेय की समानता स्थापित करने में सहायक होते हैं। सादृश्यमूलक शब्दों को वाचक शब्द कहते हैं। जैसे— सा, सी, लौं, तुल्य, इमि, जिमि आदि उदाहरण के लिए कहा जाय कि 'राम का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' तो यहाँ उपमा होगी। इसमें राम का मुख उपमेय, चन्द्रमा उपमान, सुन्दर धर्म और समान वाचक हुआ। यहाँ उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं।

उदाहरण—

(क) धनुष पै ठाढ़े राम रबि सों लसत आज।
भोर के से नखत नरिंद परे पियरे॥

धनुष के निकट खड़े हुए रामचन्द्र सूर्य के समान सुशोभित हो रहे हैं और भोर के तारों की तरह राजे पीले पड़ गए। इसमें दो उपमाएँ हैं। प्रथम में रामचन्द्र उपमेय, रवि या सूर्य उपमान, लसत (सुशोभित) धर्म एवं सों (समान) वाचक है। अतः यहाँ उपमा हुई। दूसरी पंक्ति में नरिंद (राजे)

उपमेय, भोर के तारे (नखत) उपमान, पियरे (पीला होना) धर्म तथा से (समान) वाचक शब्द हैं।

(ख) बैठी है सीता सदा राम के भीतर।
जैसे विद्युतद्युति घनश्याम के भीतर॥ —गुप्त जी।

सीता राम के मन में वैसी ही बैठी है जैसे कि बिजली की छटा काले बादलों में बैठी रहती है। यहाँ उपमेय सीता, विद्युतद्युति उपमान, बैठी है धर्म तथा जैसे वाचक है।

उपमा के भेद—उपमा दो प्रकार की होती है—पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। जहाँ उपमा के चारों अंग—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म—स्पष्ट रूप से विद्यमान रहें, वहाँ पूर्णोपमा होती है। लुप्तोपमा में उपमा के चार अंगों में से एक, दो, तीन या चारों का अभाव होता है। लुप्तोपमा के अनेक भेद होते हैं, पर यहाँ उसके दो भेदों का कथन किया जाता है।

उपमेय के अन्य नाम हैं—प्रस्तुत, प्रकृत, वर्ण्य आदि।

उपमान के अन्य नाम हैं—अप्रस्तुत, अप्रकृत, अवर्ण्य आदि।

पूर्णोपमा का उदाहरण—

पीपरपात सरिस मन डोला॥—रामायण।

पीपर की पत्ती के समान मन डोल गया। यहाँ पीपरपात-उपमेय, मन-उपमान, डोला-धर्म और सरिस-वाचक है। चूँकि यहाँ उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं, अतः पूर्णोपमा हुई।

लुप्तोपमा के भेद

(१) उपमेय लुप्ता—जहाँ उपमान, वाचक और धर्म हों, पर उपमेय लुप्त रहे तो वहाँ उपमेय लुप्ता होती है।

उदाहरण—

चंचल हैं ज्यों मीन, अरुनारे पंकज सरिस।
निरखि न होत अधीन, ऐसो नर कारन कवन॥

यहाँ दोहे की प्रथम पंक्ति—चंचल हैं ज्यों मीन मछली की तरह चंचल हैं—में उपमेय लुप्ता है। मीन या मछली उपमान, चंचल—धर्म एवं ज्यों वाचक है, पर नेत्र उपमेय का कथन न होने से यहाँ उपमेय लुप्ता है। अरुनारे पंकज सरिस—कमल के समान लाल हैं। इसमें पंकज (कमल) उपमान, अरुनारे (लाल) धर्म और सरिस (समान) वाचक है, पर उपमेय नेत्र का वर्णन नहीं किया गया है।

(२) उपमान लुप्ता—जहाँ उपमेय, वाचक और धर्म हों, पर उपमान का लोप हो तो उपमान लुप्ता होगी।

उदाहरण—

सुन्दर नंदकिसोर सो जग में मिलै न और।

नंदकिशोर के समान सुन्दर संसार में दूसरा नहीं है।

यहाँ नंदकिशोर उपमेय, सुन्दर धर्म और सो वाचक है, पर उपमान का कथन नहीं हुआ है।

(२) अनन्वय

जब एक ही पदार्थ को उममेय एवं उपमान बनाया जाय तो अनन्वय अलंकार होता है।

'अनन्वय' शब्द का अर्थ है संबंध या अन्वय का अभाव। इसमें उपमेय की समता अन्य उपमान से नहीं की जाती बल्कि उपमेय को ही उपमान मान लिया जाता है। इसमें उपमेय स्वयं उपमान बनकर अन्य उपमानों का निषेध करता है। जब उपमेय को ही उपमान मान लिया जाय तो अनन्वय अलंकार होगा।

उदाहरण—

(क) राम से राम सिया सी सीया,
उपमा सिर मौर बिरंचि बिचारे॥

यहाँ राम को राम के समान एवं सीता को सीता के समान कहने में अनन्वय अलंकार हुआ।

(ख) मरिबे जिवाइबे कों, उपमा लजाइबे कों,
तेरी अँखियाँ सी प्यारी तेरी दोऊ अँखियाँ॥

यहाँ प्यारी की आँखों के समान उसकी आँखों को ही कहकर आँखों को ही उपमेय और उपमान बना दिया गया है।

(ग) सुंदर नंदकिसोर सो सुंदर नंदकिसोर॥

(घ) श्री रघुनाथ-प्रताप लौं भूपर श्री रघुनाथ प्रताप की लाली॥

(३) उपमेयोपमा

जब उपमेय और उपमान परस्पर उपमान और उपमेय कहे जायँ तो उपमेयोपमा अलंकार होता है।

इसमें उपमेय की समता उपमान के साथ एवं उपमान की समता उपमेय के साथ स्थापित की जाती है।

उदाहरण—

(क) तो मुख सो ससि सोहत है बलि सोहत है ससि सो मुख तेरो।

यहाँ सुन्दरी के मुख को शशि (चन्द्रमा) के समान एवं चन्द्रमा को सुन्दरी के मुख के समान शोभित कहने में उपमेयोपमा अलंकार है। यहाँ सुन्दरी का मुख और चन्द्रमा आपस में उपमेय और उपमान कहे गए हैं।

(ख) पूरनमासी सी तू उजरी अरु तोसी उजारी है पूरनमासी ॥

यहाँ नायिका को पूर्णमासी की चाँदनी के समान उजली और पूर्णमासी को नायिका के समान उज्ज्वल (उजारी) कहने में उपमेयोपमा अलंकार है।

(४) रूपक

जब बिना किसी निषेध के उपमेय में उपमान का आरोप किया जाय तो रूपक अलंकार होगा।

'रूपक' का अर्थ है रूप का आरोप। आरोप का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु को इस प्रकार रखना जिससे कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर न रह जाय। रूपक अलंकार में एक वस्तु दूसरी वस्तु का रूप धारण कर लेती है। जैसे कहा जाय कि 'मुख-चन्द्र चमकता है' तो यहाँ रूपक होगा। इसमें मुख के ऊपर चन्द्रमा का आरोप किया गया है अर्थात् मुख और चन्द्रमा को एक मानकर दोनों में अभेद संबंध स्थापित किया गया है।

उदाहरण—

श्री गुरुपद-नख मनिगन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥—रामायण।

यहाँ 'गुरुपद-नख' में 'मनिगनजोती' का आरोप किया गया है अर्थात् मणि-प्रकाश एवं गुरुचरण में एकता स्थापित कर गुरुपद-नख की महिमा का बखान किया गया है। मणिगण के प्रकाश के साथ गुरुजी के चरण-नख की प्रभा में अत्यधिक समानता स्थापित कर दोनों में एकरूपता दिखाई गयी है, अतः यहाँ रूपक अलंकार हुआ।

रूपक के भेद - रूपक के अनेक भेद हैं, पर यहाँ उसके प्रमुख भेदों का ही विवेचन किया जायगा। इसके प्रमुख भेद हैं—सांग रूपक, निरंग रूपक और परम्परित रूपक।

(१) सांग रूपक—जब अंगों सहित उपमेय में उपमान का आरोप हो तो सांग रूपक होगा।

उदाहरण—

नारि-कुमुदिनी अवध सर, रघुवर-विरह दिनेस।
अस्त भये विकसित भईं, निरखि राम-राकेस ॥

—रामायण।

यहाँ नारी को कुमुद, रामचन्द्र के विरह को सूर्य एवं रामचन्द्र को चन्द्रमा का रूप दिया गया है। चूँकि यहाँ उपमेय और उपमान का अंगों सहित अभेद वर्णन है, अतः सांग रूपक हुआ।

(२) **निरंग रूपक**—जब एक उपमेय में एक उपमान का आरोप हो तो निरंग रूपक होगा।

उदाहरण—

नयन की नीलम तुला पर मोतियों से प्यार तोला।
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्यार मोला॥

—महादेवी।

यहाँ नयन के ऊपर नीलम तुला का आरोप है, जो एक उपमेय में एक उपमान के आरोप का उदाहरण है।

(३) **परम्परित रूपक**—जब एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो तो परम्परित रूपक होगा। इसमें एक रूपक दूसरे रूपक का कारण होता है।

उदाहरण—

राम नाम सुंदर कर तारी। संसय बिहँग उड़ावन हारी॥

—रामायण।

यहाँ कहा गया है कि 'राम-नाम हाथ की सुन्दर ताली है जो संशयरूपी विहग को उड़ा देती है'। यहाँ राम-नाम और तारी में तथा संशय और विहग में कोई संबंध नहीं है, पर जब राम-नाम पर तारी का आरोप हुआ इसीलिए संशय पर विहग का आरोप करना पड़ा। इसमें एक रूपक अर्थात् राम-नाम और तारी दूसरे रूपक संशय और विहंग का कारण है। जब तक हम राम-नाम को हाथ की ताली नहीं कहेंगे तब तक संशय को विहग नहीं कहा जा सकता।

उपमा और रूपक—उपमा और रूपक दोनों में ही सादृश्य या समानता की प्रधानता होती है, किन्तु उपमा का सादृश्य वाच्य होता है और रूपक का आर्थ अर्थात् उपमा के सादृश्य का ज्ञान शब्दों से ही हो जाता है, पर रूपक के सादृश्य की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है। उपमा में दो वस्तुओं में तुलना होती है, पर रूपक में दो वस्तुओं में अभेद होता है अर्थात् दोनों को एक मान लिया जाता है।

(५) संदेहालंकार

सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान के संशय को संदेहालंकार कहते हैं। संदेह का अर्थ है संशय। इसमें प्रस्तुत को देखकर उसमें अप्रस्तुत के संदेह

का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाता है। इसके वाचक या, किधौं, अथवा, की आदि हैं।

उदाहरण—

(क) विरह है अथवा यह वरदान। —पंत।

यहाँ विरह में वरदान का संदेह प्रकट किया गया है।

(ख) परचि परै नहिं अरुन रंग, अमल अधर दल माँझ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधों फूली साँझ॥

यहाँ एक उपमेय अर्थात् अधर की लाली में अनेक उपमानों अर्थात् दुपहरिया के फूल अथवा संध्या की अरुणिमा (लाली) के संशय होने का वर्णन है।

(६) भ्रान्तिमान्

अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत की निश्चयात्मक भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलंकार कहते हैं।

भ्रान्तिमान् अलंकार में एक वस्तु (उपमेय) में दूसरी वस्तु (उपमान) के निश्चयात्मक भ्रम होने का वर्णन होता है।

उदाहरण—

पाय महावर दैन कौं, नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी, एँड़ी मीडति जाय॥
—बिहारी।

कोई नाइन किसी नायिका की एड़ी में महावर लगाने आयी, पर एड़ी की स्वाभाविक लाली में उसे महावर का भ्रम हो गया और वह उसमें (एड़ी में) जल लगाकर निचोड़ने लगी। यहाँ नायिका की एड़ी की अत्यधिक अरुणिमा (लाली) के कारण नाइन को उसमें महावर का निश्चयात्मक भ्रम हो गया है, अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार हुआ।

(७) अपह्नुति

जहाँ प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध कर उस पर उपमान की स्थापना की जाय तो वहाँ अपह्नुति अलंकार होगा।

'अपह्नुति' का अर्थ है गोपन या छिपाना। इसमें प्रकृत या उपमेय को छिपाकर उस पर अप्रकृत या उपमान की स्थापना की जाती है अर्थात् सच्ची बात को छिपाकर उस पर असत्य या झूठी बात को स्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिए कहा जाय कि 'वह भाई नहीं, मेरा काल है' तो इस कथन में

अपह्नुति होगी। यहाँ सच्ची बात भाई को छिपाकर झूठी बात काल को प्रकट किया गया है।

उदाहरण—

यह न ससी तौ है कहा ? नभ-गंगा जलजात।

यह चन्द्रमा नहीं, आकाश-गंगा का कमल (जलजात) है। यहाँ वास्तविक पदार्थ शशि (चन्द्रमा) है और अवास्तविक या अप्रस्तुत नभगंगा का कमल है। यहाँ वास्तविक पदार्थ या चन्द्रमा का निषेध कर उस पर नभगंगा के कमल का आरोप है।

अपह्नुति के भेद—अपह्नुति के ६ भेद हैं—

(१) शुद्धापह्नुति—जब वास्तविक उपमेय को छिपाकर उस पर अवास्तविक उपमान का आरोप हो तो शुद्धापह्नुति होगी।

उदाहरण—

पहिरे स्याम न पीत पट, घन में बिज्जु विलास।

श्याम (श्रीकृष्ण) ने पीला वस्त्र नहीं पहना है, बल्कि बादल में बिजली चमक रही है। यहाँ वास्तविक बात श्रीकृष्ण के पीत वस्त्र धारण करने को छिपाकर उस पर बादल में बिजली चमकने का आरोप किया गया है।

(२) हेत्वापह्नुति—जब सच्ची बात को छिपाकर झूठी बात के आरोप में कोई कारण कहा जाय तो हेत्वापह्नुति होगी।

उदाहरण—

रात-माँझ रबि होत नहिं, ससि नहिं तीव्र सुलाग।
उठी लखन अवलोकिये, बारिधि सों बड़वाग॥

रामचन्द्र चन्द्रमा को देखकर लक्ष्मण से कहते हैं कि हे लक्ष्मण देखो, यह तो चन्द्रमा नहीं है, क्योंकि रात में सूर्य होता नहीं और चन्द्रमा तीव्र या तीखा नहीं होता। ऐसा लगता है कि समुद्र से निकलती हुई यह बाड़वाग्नि है। यहाँ वास्तविक बात चन्द्रमा का निषेध कर उस पर अवास्तविक बात बाड़वाग्नि का आरोप करने में कारण भी दिखाया गया है कि चन्द्रमा तीव्र नहीं होता और यह तीव्र लगता है।

(३) पर्यस्तापह्नुति—किसी वस्तु के धर्म का निषेध कर अर्थात् उपमान के धर्म का निषेध कर अन्य वस्तु या उपमेय में उसकी स्थापना करने पर पर्यस्तापह्नुति होती है।

उदाहरण--

है न सुधा यह है सुधा, संगति साधु प्रयाग।

यहाँ अमृत को वास्तविक अमृत न मानकर प्रयाग के साधु-समाज की संगति को अमृत कहा गया है।

(४) भ्रान्तापह्नुति--किसी को किसी वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति होने पर यदि सच्ची बात कहकर उसके भ्रम का निवारण किया जाय तो भ्रान्तापह्नुति होती है।

उदाहरण--

बेसर मोती दुति-झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय॥

—बिहारी।

यहाँ नायिका को नकबेसर के मोती की चमक में जो उसके अधर (होंठ) पर पड़ती है, चूना लगने का भ्रम हो गया है, इसलिए वह उसे बार-बार पोंछती है। सखी उसके भ्रम का निवारण कर कहती है कि यह चूना नहीं, तुम्हारे नकबेसर (नाक का गहना) के मोती की छाया है। यहाँ सखी नायिका को सच्ची बात कहकर उसके भ्रम का निवारण करती है।

(५) छेकापह्नुति--जब स्वयं कथित गुप्त रहस्य के प्रकट हो जाने पर मिथ्या कथन के द्वारा उसे छिपाया जाय तो छेकापह्नुति होगी।

उदाहरण--

सिगरी रैन मोहि सँग जागा।
भोर भयो तब बिछुड़न लागा॥
वाके बिछुड़त फाटे हीया।
कहु सखि साजन ना सखि दीया॥

दो सखियाँ अपने पति के सम्बन्ध में बातें कर रही थीं, इसी बीच तीसरी सखी आयी और उसने कहा कि क्या तुम लोग पति के बारे में कह रही हो? तो गुप्त रहस्य के प्रकट होने के कारण उसने उसे छिपाकर कहा कि पति नहीं, हम लोग दीया या दीपक के बारे में कह रही हैं।

(६) कैतवापह्नुति--जब कैतव, मिस, छल या बहाने शब्दों के द्वारा उपमेय का निषेध किया जाय तो कैतवापह्नुति होती है।

उदाहरण--

सावन की अंधी रजनी,
वारिद मिस रोती आयी॥

यहाँ जल-वर्षा का निषेध कर मिस शब्द के द्वारा अश्रुवर्षा का आरोप किया गया है।

(८) तुल्ययोगिता

जब अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) का एक धर्म कहा जाय तो तुल्ययोगिता अलंकार होगा।

'तुल्ययोगिता' का अर्थ है 'समानों का सम्बन्ध' (तुल्य–समान; योगिता–सम्बन्ध)। इसमें अनेक उपमेयों या अनेक उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, अत: इसे तुल्ययोगिता कहते हैं।

उदाहरण—अनेक उपमेयों का एक धर्म—

(क) मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन, मन ललनहू, सौतिन दियो सुहाग॥

—बिहारी।

यहाँ सास, ललन (पति) एवं सौत तीनों उपमेय हैं और इनका एक ही धर्म है दियो या दिया। अत: अनेक उपमेयों का एक धर्म कथन किये जाने के कारण यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार हुआ। इस दोहे में कहा गया है कि मानो नई वधू को मुख दिखरावनी अर्थात् पहले-पहल मुँह देखने के लिए सास ने सदन (घर , पति ने मन और सौतों ने अपना सुहाग दे दिया।

अनेक उपमानों का एक धर्म—

(ख) मंद मंद जब तें भई, चंदमुखी तब चाल।
मन मलीन तब तें भये, मत्त-मतंग, मराल॥

यहाँ मतंग (हाथी) और मराल (हंस) दो उपमान हैं और दोनों का एक ही धर्म है मत्त या मतवाला होना। जब से नायिका या चंदमुखी की चाल मंद-मंद (धीरे-धीरे) हो गयी तब से मतंग और मराल मतवाले हो गए। यहाँ अनेक उपमानों का एक धर्म कथन किया गया है, अत: द्वितीय तुल्ययोगिता हुई।

(९) दीपक

जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का एक ही धर्म कहा जाय वहाँ दीपक अलंकार होता है।

'दीपक' का अर्थ है जो प्रकाशित करे। इसमें प्रस्तुत (उपमेय) का साधारण धर्म अप्रस्तुत (उपमान को भी प्रकाशित करता है, इसलिए इसे दीपक कहते हैं। दीपक अलंकार में उपमेय और उपमान का एक ही साधारण धर्म होता है। तुल्ययोगिता में प्रस्तुत या अप्रस्तुत दोनों में से एक का साधारण धर्म एक रहता है, पर दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक साधारण कहा जाता है।

उदाहरण—

फल सों सोहत तीर्थ जल, जल से सोहत कूप।
रस से सोहत सुमन-दल, जल से सोहत भूप॥

यहाँ भूप (राजा) उपमेय है और तीर्थजल, कूप (कूआँ) तथा सुमन (फूल) दल उपमान हैं। सबों का एक ही साधारण धर्म है सोहत, अतः उपमेय एवं उपमानों का एक ही साधारण धर्म होने के कारण दीपक अलंकार हुआ।

(१०) प्रतिवस्तूपमा

जब उपमेय एवं उपमान वाक्यों का एक ही साधारण धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथित हो तो प्रतिवस्तूपमा अलंकार होगा।

'प्रतिवस्तूपमा' का अर्थ है प्रतिवस्तु अर्थात् प्रत्येक वाक्य में उपमा या सादृश्य (समानता)। इसमें प्रत्येक वाक्य में सादृश्य दिखलाया जाता है।

प्रतिवस्तूपमा में तीन बातें मुख्य हैं—

क—उपमेय एवं उपमान दो वाक्यों का रहना—

ख—दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म होना—

ग—उस साधारण धर्म का कथन भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा किया जाना—

जैसे कहा जाय कि 'मुख सुन्दर है, चन्द्रमा मनोरम है' तो यहाँ प्रतिवस्तूपमा होगी। यहाँ 'मुख सुन्दर है' उपमेय वाक्य है और 'चन्द्रमा मनोरम है' उपमान वाक्य। दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म है सुन्दर और सुन्दर अर्थात् साधारण धर्म का कथन सुन्दर और मनोरम दो शब्दों से किया गया है। अतः इस उदाहरण में प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

उदाहरण—

राजत मुख मृदुबानि सों, लसत सुधा सों चंद।

मुख मृदु वाणी (मीठी बोली) से सुशोभित होता है (राजत) और चन्द्रमा सुधा (अमृत) से शोभित होता है (लसत)। यहाँ 'मुख मीठी बात से शोभता है' उपमेय वाक्य है और 'चन्द्रमा अमृत से शोभता है' उपमान वाक्य। दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म है शोभना, जिसे राजत और लसत दो भिन्न शब्दों द्वारा कहा गया है।

(११) दृष्टान्त

जब उपमेय एवं उपमान वाक्यों तथा उनके साधारण धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होगा।

दृष्टान्त का अर्थ उदाहरण है। इसमें किसी बात को पहले कहकर उसकी पुष्टि के लिए उसी के समान दूसरी बात कही जाती है। दृष्टान्त में दो वाक्य

होते हैं—उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य और दोनों के साधारण धर्म अलग-अलग होते हैं, पर उनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव दिखायी पड़ता है या एक प्रकार की समानता रहती है। दो भिन्न-भिन्न पदार्थों में एकता स्थापित करने को बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहते हैं। जैसे कहा जाय कि कृष्ण के प्रति अनुरक्त होने के कारण हमें योग अच्छा नहीं लगता, क्या कोई राजा का पद पाकर भीख माँगता है ? तो यहाँ दृष्टान्त अलंकार होगा। इसमें प्रथम वाक्य अर्थात् कृष्ण के प्रति अनुरक्त होने से योग अच्छा नहीं लगता उपमेय वाक्य है और द्वितीय वाक्य अर्थात् राजा होकर कोई भीख नहीं माँगता, उपमान वाक्य। यहाँ प्रथम वाक्य में जो बात कही गयी है उसकी पुष्टि द्वितीय वाक्य से होती है। श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त होने के कारण योग उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता जिस प्रकार राजा का पद पाकर कोई भीख नहीं माँगता। यहाँ प्रथम और द्वितीय वाक्य में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है अर्थात् सादृश्य दिखाई पड़ता है।

उदाहरण—

पड़ी प्रेम नंदलाल के, मोहि न भावत जोग।
ऊधो राजपद पाइके, भीख न माँगत लोग॥

इस दोहे का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है।

(१२) निदर्शना

दो वाक्यों में असम्भव सम्बन्ध के होने पर भी या सम्भव सम्बन्ध होने के कारण उपमा के द्वारा उनमें सम्बन्ध की कल्पना करना निदर्शना अलंकार है।

'निदर्शना' का अर्थ है दृष्टान्त या कुछ करके दिखाना। इस अलंकार में दो पदार्थों में सम्भव या असम्भव सम्बन्ध के होने पर भी, दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की प्रतीति कराकर या सादृश्य की कल्पना कर उनमें सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। दोनों वाक्य असङ्गत-से लगते हैं, पर उनमें सादृश्य की कल्पना कर सङ्गति स्थापित की जाती है। उदाहरण के लिए कहा जाय कि 'जो राष्ट्र की सेवा करते हैं वे आग से खेलते हैं' तो यहाँ निदर्शना अलंकार होगा। 'राष्ट्र की सेवा करना' और 'आग से खेलना' ये दोनों ही वाक्य परस्पर असम्बद्ध हैं, इनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। पर, उपमा के द्वारा इनमें सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि 'राष्ट्र की सेवा करना उतना ही कठिन है जितना कि आग से खेलना अर्थात् राष्ट्र की सेवा करना आग से खेलने की तरह खतरनाक या कठिन कार्य है। यहाँ दो असम्बद्ध वाक्यों में उपमा या सादृश्य के द्वारा सम्बन्ध की कल्पना की गयी है।

उदाहरण—

जे अस भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥
—रामायण ।

यहाँ बतलाया गया है कि जो सहज प्राप्त होने वाली भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान के लिए श्रम करते हैं, वे कामधेनु को छोड़कर दूध के लिए आक (अकवन) की खोज करते हैं । यहाँ दोनों वाक्यों में कोई सङ्गति नहीं है, किन्तु उपमा के द्वारा इनमें सादृश्य की कल्पना की गयी है । यहाँ यह दिखलाया गया है कि सर्वग्राह्य (सबके लिए ग्रहण करने योग्य) भक्ति को छोड़कर ज्ञान के लिए श्रम करना कामधेनु को छोड़कर दूध के लिए आक ढूँढ़ने की तरह व्यर्थ है ।

(१३) व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन में व्यतिरेक अलंकार होता है । 'व्यतिरेक का अर्थ है विशेष (वि) प्रकार का आधिक्य (अतिरेक) । इस अलंकार में गुण-विशेष के कारण उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन होता है ।

उदाहरण—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ॥
—बरवै रामायण ।

यहाँ कनक की अपेक्षा सीता के अंग को अधिक शोभाकर बताने में व्यतिरेक अलंकार है । सीता का अंग सोने के सदृश शोभाकर और सुखदायक है, पर सोना कठोर है और सीता का अंग कोमल । यहाँ सोने की अपेक्षा सीता के अंग में कोमलता गुण की विशेषता दिखाकर सोने से अंग को अधिक सुखदायक दिखाया गया है । सोना उपमान है और सीता का अंग उपमेय । उपमान की अपेक्षा उपमेय के अधिक उत्कर्ष-वर्णन के कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार हुआ ।

(१४) उत्प्रेक्षा

जब प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत की सम्भावना की जाय तो उत्प्रेक्षालंकार होता है ।

'उत्प्रेक्षा' शब्द उत् + प्र + ईक्षा के योग से बना है जिसका अर्थ है उत्कट (उत्) रूप से प्रकृष्ट (उपमान) को देखना (ईक्षा) । इसमें उपमेय की उपमान के रूप में बलपूर्वक कल्पना की जाती है । कल्पना से यहाँ अभिप्राय

सम्भावना का है। उत्प्रेक्षालंकार में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है। इसके वाचक मानो, जानो, मनु, जनु आदि हैं।

उदाहरण—

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयौ प्रभात॥
—बिहारी।

यहाँ बताया गया है कि श्रीकृष्ण के साँवरे शरीर पर पीताम्बर (पीत वस्त्र) ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो नीलमणि पर्वत पर प्रातःकाल की सूर्य की किरणें पड़ रही हों। यहाँ पीताम्बर ओढ़े हुए कृष्ण अर्थात् उपमेय की कल्पना या सम्भावना नीलमणि पर्वत (उपमान) पर प्रातःकाल में पड़ने वाली सूर्य की रश्मियों से रूप में की गयी है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार हुआ।

उत्प्रेक्षा के भेद—उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

(क) वस्तूत्प्रेक्षा—जब एक वस्तु में दूसरी वस्तु की सम्भावना की जाय तो वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—

छिप्यौ छबीलै मुँह लसै, नीलै अंचल चोर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥
—बिहारी।

नीले वस्त्र के आँचल में छिपा हुआ सुन्दरी का सुन्दर मुख ऐसा शोभ रहा है मानो यमुना (कालिंदी) के नीले जल में चाँद (कलानिधि) झलमला रहा हो। यहाँ आँचल में छिपे हुए मुँह अर्थात् एक वस्तु की कल्पना यमुना के जल में झलमलाते हुए चाँद अर्थात् दूसरी वस्तु के रूप में की गयी है, अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा हुई।

(ख) हेतूत्प्रेक्षा—जब अहेतु में हेतु की कल्पना की जाय तो हेतूत्प्रेक्षा होगी। इसमें जिस पदार्थ का जो कारण नहीं होता उसे भी उसका कारण मान लिया जाता है।

उदाहरण—

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इन्दुकला कुज में बसी, मनहु राहु-भय भाजि॥
—बिहारी।

सुन्दरी के ललाट पर स्थित अक्षत (आखत, चावल) ऐसे शोभ रहे हैं मानो चन्द्रकिरण (इन्दुकला) राहु के भय से मंगल (कुज) में जाकर बसी हो।

यहाँ अकारण (राहु के भय से चन्द्रकिरण को मंगल में बसने में) को कारण के रूप में कल्पित किया गया है।

(ग) फलोत्प्रेक्षा—जब अफल में फल की कल्पना की जाय तो फलोत्प्रेक्षा होती है। इसमें जो जिसका वास्तविक फल या उद्देश्य नहीं है उसे भी फल मान लिया जाता है।

उदाहरण—

तव पद समता को कमल जल सेवत इक पाय।

यहाँ बताया गया है कि सुन्दरी के चरण की समता प्राप्त करने के लिए कमल जल में रहकर तपस्या कर रहा है। यहाँ कमल का जल में रहकर सुन्दरी के चरण की समता के लिए तपस्या करना अफल में फल की कल्पना है।

(१५) समासोक्ति

जब प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति हो तो समासोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति का अर्थ है संक्षिप्त (समास) कथन (उक्ति)। इस अलंकार में प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की प्रतीति में एक के कथन से दो का ज्ञान होने का वर्णन रहता है, इसलिए इसे समासोक्ति कहते हैं। संक्षेप में प्रस्तुत एवं अप्र·तुत दोनों वृत्तान्तों की अभिव्यक्ति हाने के कारण समासोक्ति नाम सार्थक हो जाता है।

उदाहरण—

चंपलता सुकुमार तू, धन तुव भाग्य बिसाल।
तेरे ढिग सोहत सुखद, सुंदर स्याम तमाल॥

यहाँ किसी चंपकलता के प्रति, जो तमाल वृक्ष से लिपटी हुई है, सखी की उक्ति है। 'हे चंपकलते ! तू अत्यन्त सुकुमार है, तू धन्य है और तुम्हारा भाग्य बहुत ही बड़ा है; क्योंकि तुम्हारे पास सदा सुन्दर, सुखद, श्याम तमाल वृक्ष सुशोभित हो रहा है। यहाँ सुखद, सुन्दर और श्याम विशेषणों के कारण इसका सम्बन्ध राधा और कृष्ण से भी हो जाता है। यहाँ प्रस्तुत चंपा के वर्णन से अप्रस्तुत राधा का भी ज्ञान हो जाता है। अतः इस दोहे में समासोक्ति अलंकार हुआ।

(१६) अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत की प्रतीति हो, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। अप्रस्तुत प्रशंसा का अर्थ है अप्रस्तुत का वर्णन (प्रशंसा)। इसमें

अप्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है, अतः इसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं।

उदाहरण—

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा।
सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥

—रामायण।

यहाँ प्रस्तुत कार्य है रति का सौन्दर्य-वर्णन, किन्तु उसका उल्लेखन कर चन्द्रमा के सार-भाग को ग्रहण करने का वर्णन किया गया है। चन्द्रमा का सारभाग ग्रहण करना अप्रस्तुत कारण है, क्योंकि उसे किसी ने नहीं देखा है। यहाँ अप्रस्तुत कारण के द्वारा प्रस्तुत कार्य रति के सौन्दर्य का ज्ञान होता है, अतः इसमें अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार हुआ।

अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद—इसके पाँच भेद हैं—कारणनिबंधना, कार्यनिबंधना, विशेषनिबंधना, सामान्यनिबंधना और सारूप्यनिबंधना।

(१) कारणनिबन्धना—अप्रस्तुत कारण के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति का होना कारणनिबन्धना है।

इसका उदाहरण पूर्वोक्त चौपाई है—

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा।
सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥

२) कार्यनिबंधना—जब अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कार्य का ज्ञान हो तो कार्यनिबंधना होती है।

उदाहरण—

राधिका को बदन सँवारि बिधि धोये हाथ,
ताते भयो चन्द कर झारे भये तारे हैं॥

यहाँ राधिका के मुख का सौन्दर्य-वर्णन प्रस्तुत वृत्तान्त है, पर उसका वर्णन न कर ब्रह्मा द्वारा राधिका के मुख का निर्माण कर हाथ धोकर झारने पर चन्द्रमा एवं तारों की सृष्टि (कार्य) का कथन किया गया है।

(३) विशेषनिबंधना—जब अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति हो तो विशेषनिबंधना होगी।

उदाहरण—

शेष सहसफन बिस धरैं, नहिं अभिमान अतंक।
वृश्चिक एकहिं बिन्दु पै, चकत उठाये डंक॥

यहाँ शेष और वृश्चिक (बिच्छू) के विशेष वर्णन से अर्थात् अप्रस्तुत विशेष के कथन से प्रस्तुत सामान्य अर्थ यह प्रकट होता है कि बड़े लोग शक्तिशाली होने पर भी अभिमान नहीं करते और छोटे थोड़ी-सी शक्ति प्राप्त कर अभिमानी बन जाते हैं।

(४) सामान्यनिबंधना—जब अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत विशेष का बोध हो तो सामान्यनिबंधना होगी।

उदाहरण—

सबल पुरुष सों निबल नर, बैर करत हठ जोर।
ते अपने मुख आपही, पियत हलाहल घोर॥

निर्बल पुरुष का सबल से वैर करना अपने मुँह में स्वयं विष डालना है। इस प्रकार के अप्रस्तुत सामान्य कथन से किसी प्रस्तुत विशेष या विशिष्ट व्यक्ति को समझाया जा रहा है जो स्वयं निर्बल होकर बलवान् से शत्रुता कर रहा है।

(५) सारूप्यनिबंधना—जब अप्रस्तुत समान (तुल्य वस्तु) के द्वारा प्रस्तुत समान (तुल्य वस्तु) का ज्ञान हो तो सारूप्यनिबंधना होगी।

उदाहरण—

माली आवत देखि कै, कलियाँ करी पुकार।
फूली-फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बार॥

—कबीर।

यहाँ माली और कली के द्वारा प्रत्येक मनुष्य को काल के आमन्त्रण का सन्देह है। सारूप्यनिबंधना का अन्य नाम अन्योक्ति भी है।

(१७) पर्यायोक्ति

इष्टार्थ का प्रकारान्तर से कथन करना पर्यायोक्ति अलंकार है।

'पर्यायोक्ति' का अर्थ है अन्य प्रकार (पर्याय) का कथन (उक्ति)। इस अलंकार में इच्छित वस्तु (इष्टार्थ) का कथन प्रकारान्तर या अन्य प्रकार से किया जाता है। अर्थात् अभीष्ट बात सीधे ढंग से न कहकर घुमा-फिरा कर इस प्रकार कही जाती है कि उसका श्रोता पर अधिक प्रभाव पड़ सके।

उदाहरण—

टुनहाई तब टोल में, रही जु सौति कहाय।
सु त्यौं ऐंचि प्यौ आपु त्यों, करी अदोखिल आय॥

—बिहारी।

सखी नायिका से कह रही है कि तुम्हारी सौत इस टोले में जादूगरनी समझी जाती थी, क्योंकि वह अपने सौन्दर्य-बल से सबको अपने ऊपर आसक्त कर लेती थी। पर तूने प्रिय को अपनी ओर आकृष्ट कर उसे दोष-मुक्त कर दिया। यहाँ

कहने का अभिप्राय यह है कि तुम्हारी सौत ने सौन्दर्याधिक्य के कारण तुम्हारे पति को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था, किन्तु तूने उसे अपने वश में करके उस पर विजय प्राप्त कर ली। सखी कहना चाहती है कि तुम अपनी सौत से अधिक सुन्दर हो, किन्तु वह इस कथन को सीधे ढंग से न कहकर प्रकारान्तर से या अन्य प्रकार से (घुमा-फिरा कर) कहती है। तूने टोना करने वाली सौत को कलंक-मुक्त कर दिया।

किसी बहाने से इच्छित कार्य को सिद्ध करने में भी पर्यायोक्ति होती है।

उदाहरण—

नाथ ! लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु सँकोच उर प्रकट न कहहीं।
जौ राउर अनुसासन पाऊँ। नगर दिखाय तुरत लै आऊँ॥

—रामायण।

यहाँ रामचन्द्र जी की इच्छा है कि वे नगर देखें, पर वे लक्ष्मण के बहाने अपनी इच्छा को प्रकट कर रहे हैं।

(१८) अतिशयोक्ति

जब उपमान के द्वारा उपमेय का ज्ञान हो तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

'अतिशयोक्ति' का अर्थ है अतिशय कथन। इस अलंकार में उपमान के द्वारा ही उपमेय का ज्ञान होता है अर्थात् उपमान, उपमेय का निगरण कर (निगलकर) उसके साथ अभेद-स्थापन करता है। इसमें उपमान-ही-उपमान रह जाता है और उपमेय की सत्ता उसमें विलीन हो जाती है। जैसे कहा जाय कि 'यह नागिन किसको डँसने चली है' तो इसका अर्थ होगा कि लम्बी चोटी वाली नायिका किसको प्यार करेगी। यहाँ नागिन (उपमान) के द्वारा लम्बी चोटी वाली नायिका का ज्ञान होता है।

उदाहरण—

राम सीय सिर सिंदुर देहीं। उपमा कहि न जात कवि केहीं॥
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहिं भूषि अहि लोभ अमीके॥

—रामायण।

यहाँ राम द्वारा सीता को सिंदूर दिये जाने का वर्णन है। इसमें सिंदूर, सिंदूरपात्र, मुख एवं हाथ का बोध क्रमशः अरुन पराग, जलज (कमल), ससि (चन्द्रमा) एवं अहि (सर्प) के द्वारा हो रहा है। कवि मुखादि उपमेय का वर्णन न कर उनके उपमानों के द्वारा (चन्द्रमा आदि के द्वारा) ही उनका ज्ञान कराता है। यहाँ उपमान उपमेय का पूर्णतः निगरण कर उसके साथ अभेदत्व की स्थापना कर लेता है।

अतिशयोक्ति के भेद—इसके सात प्रकार हैं—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, असंबंधातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति तथा अत्यन्तातिशयोक्ति।

(१) रूपकातिशयोक्ति—जब उपमान के द्वारा उपमेय का ज्ञान हो तो रूपकातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण—

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥

—प्रसाद।

इसमें मोतियों से भरी हुई माँग का वर्णन किया गया है। किसने काली जंजीरों से चन्द्रमा (विधु) को बाँध लिया था और मणि वाले सर्पों (फणियों) का मुख हीरों से क्यों भरा हुआ था। यहाँ चन्द्रमा से मुख का, काली जंजीरों से नायिका के केश का तथा मणि वाले फणियों से मोती-भरी माँग का ज्ञान होता है।

(२) भेदकातिशयोक्ति—जब उपमेय में उपमान का अभेद सम्बन्ध होने पर भी भेद दिखाया जाय तो भेदकातिशयोक्ति होगी। इसके वाचक औरे और न्यारे हैं।

उदाहरण—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि समान।
वे नैना औरे कछू, जेहि बस होत सुजान॥

—बिहारी।

यहाँ 'औरे चितवनि' कहकर आँखों की विशेषता बतलायी गयी है और औरे शब्द के द्वारा उपमेय को उपमान से भिन्न बताया गया है।

(३) सम्बन्धातिशयोक्ति—जब अयोग्य (असम्बन्ध) में योग्यता दिखाई जाय तो सम्बन्धातिशयोक्ति होगी।

उदाहरण—

फबि फहरैं अति उच्च निसाना।
तिन महँ अटकत बिबुध बिमाना॥

यहाँ ध्वजा की ऊँचाई में देवताओं का विमान अटकने के कथन में अयोग्य में योग्यता का प्रदर्शन हुआ है।

(४) असम्बन्धातिशयोक्ति—जब सम्बन्ध में असम्बन्ध या योग्य में अयोग्यता दिखायी जाय तो असम्बन्धातिशयोक्ति होगी।

उदाहरण—

अति सुन्दर लखि सिय मुख तेरो।
आदर हम न करत ससि केरो॥

यहाँ सीता के मुख को देखकर चन्द्रमा का आदर नहीं करना चन्द्रमा में योग्यता होने पर भी अयोग्यता का वर्णन है।

(५) अक्रमातिशयोक्ति—जब कारण और कार्य का एक ही साथ वर्णन हो तो अक्रमातिशयोक्ति होगी।

उदाहरण—

बानासन ते रावरे, बान विषम रघुनाथ।
दससिर दस धड़ तें कढ़े, दोऊ एक ही साथ॥

राम के धनुष से बाणों का एवं रावण के धड़ से सिरों का एक ही साथ निकलने के वर्णन में अक्रमातिशयोक्ति है।

(६) चपलातिशयोक्ति—जब कारण के ज्ञान मात्र से या देखने-सुनने से ही कार्य हो जाय तो चपलातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण—

तब शिव तीसर नैन उघारा।
चितवत काम भयो जरि छारा॥

यहाँ शिव के देखने मात्र से कामदेव का जलकर राख होने में चपलातिशयोक्ति है।

(७) अत्यन्तातिशयोक्ति—जब कारण के पहले ही कार्य हो जाने का वर्णन किया जाय तो अत्यन्तातिशयोक्ति होगी। इसमें कारण के पूर्व कार्य हो जाता है।

उदाहरण—

हनूमान की पूँछ में, लागि न पाई आग।
तुरतहिं लंका जल गयी, गये निसाचर भाग॥

हनुमान की पूँछ में आग लगने के पूर्व ही लंका के जलने में कारण से पूर्व कार्य होने का वर्णन है।

(१९) परिकर

जब साभिप्राय विशेषणों का वर्णन किया जाय तो परिकर अलंकार होता है। 'परिकर' का अर्थ उपकरण है। इस अलंकार में अभिप्राय-युक्त विशेषणों का वर्णन किया जाता है।

उदाहरण—

कौन सुने कासों कहों, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं, ए बदरा बदराह ॥---बिहारी।

यहाँ बदराह (कुमार्गगामी) विशेषण बादलों के लिए आया है, जो अभिप्राय-युक्त है। प्रिय के वियोग में नायिका को ये कुमार्गगामी (बदराह) बादल शर्त बाँधकर (बदाबदी) तंग कर रहे हैं।

(२०) ब्याजस्तुति

यदि स्तुति के बहाने निंदा या निंदा के बहाने स्तुति की जाय तो ब्याजस्तुति अलंकार होता है।

'ब्याजस्तुति' का अर्थ है बहाने से प्रशंसा या स्तुति करना। इस अलंकार में स्तुति के बहाने निंदा या निंदा के बहाने स्तुति की जाती है, इसलिए इसे ब्याजस्तुति कहते हैं।

उदाहरण—

स्तुति के बहाने निन्दा का

नारद सन सिव गन कहत, धन्य रावरो रूप।
राजकुँवरि के जोग वर, को अस और अनूप ॥

यहाँ नारद के रूप की प्रशंसा करने में स्तुति के बहाने उनकी निंदा की गयी है।

(२१) आक्षेप

जब विवक्षित वस्तु की विशेषता का प्रतिपादन करने लिए उसका निषेध-सा किया जाय तो आक्षेप अलंकार होगा।

'आक्षेप' का अर्थ बाधा डालना या निषेध करना है। इस अलंकार में अभीष्ट (विवक्षित) वस्तु की विशेषता बतलाने के लिए वाक्य को बिना पूरा किये ही उसे बीच में छोड़ दिया जाता है। इसमें निषेध वास्तविक नहीं होता, बल्कि निषेध का आभास-मात्र हो। जैसे, कहा जाय कि 'उसकी दशा का वर्णन क्या करूँ, नहीं कहना ही अच्छा होगा' तो ऐसे कथनों में आक्षेप होगा।

उदाहरण—

भए बटाऊ नेह तजि, बादि बकति बेकाज।
अब अलि देत उराहनो, उर उपजति अति लाज ॥

—बिहारी।

यहाँ विदेश या दूरदेश गमन के लिए उद्यत (तैयार) नायक के प्रति नायिका का कथन है। नायिका सखी से कह रही है ये (प्रिय) तो हमारे प्रेम का त्याग कर राही हो गए हैं, अब इन्हें रोकने की बात कहना व्यर्थ है। हे सखी ! अब तो उलाहना देने में भी मन को लज्जा होती है। यहाँ नायिका का अभिलषितार्थ है नायक को उपालंभ (उलाहना) देना, किन्तु वह 'बादि बकति बेकाज' का कथन कर अपने वक्तव्य को अधिक आकर्षक बनाने के लिए उसे बीच में ही छोड़ देती है।

आक्षेप के भेद—आक्षेप के तीन भेद हैं—उक्ताक्षेप, व्यक्ताक्षेप और निषेधाक्षेप।

(१) उक्ताक्षेप—जब पहले वक्तव्य वस्तु को कहकर पीछे उसका निषेध किया जाय तो उक्ताक्षेप होगा।

उदाहरण—

सह्यौ न जात वियोग सखि, कछु करि करिय उपाय।
अथवा मरिहै आजु ही, ससि सरूप दिखराय॥

यहाँ वियोगिनी नायिका का सखी के प्रति कथन है। वह कहती है कि मुझसे वियोग सहा नहीं जाता है, तुम कुछ ऐसा उपाय करो कि यह दूर हो सके। इस पर वह अपने कथन को बीच में ही छोड़कर कहती है कि चन्द्रमा तो अपना रूप दिखाकर आज ही मार डालेगा। यहाँ पहले वियोग का कथन कर बाद में उसका निषेध करने में आक्षेप अलंकार है।

(२) व्यक्ताक्षेप—जब विषय के कथन के पूर्व ही निषेध किया जाय तो व्यक्ताक्षेप होगा।

उदाहरण—

कवि न होऊँ नहिं चतुर कहाऊँ।
मति अनुरूप राम गुन गाऊँ॥

यहाँ विषय को कहने के पूर्व ही निषेध कर दिया गया है कि मैं कवि नहीं हूँ और न चतुर हूँ, पर अपनी बुद्धि के अनुसार राम का गुणानुवाद करता हूँ।

(३) निषेधाक्षेप—जब विधि में ही निषेध का भाव छिपा हो तो निषेधाक्षेप होगा। इसमें विधि (स्वीकृति) में अस्वीकृति (निषेध) छिपी रहती है।

उदाहरण—

हसुख सौं पीय सुधारिए पग-पग हो कल्यान।
हौं ही जनमौंगी तहाँ, तुव जेहि देस पयान॥

यहाँ पहले नायिका नायक को प्रसन्नतापूर्वक विदेश जाने की आज्ञा देती है। पर इस स्वीकृति में भी अस्वीकृति का भाव है। वह नायक से कहती है कि आप जिस देश में जा रहे हैं; मैं वहीं जन्म लूँगी। यहाँ उसका कहना है कि आपके जाने पर मैं जीवित नहीं रहूँगी, इसलिए आप विदेश न जाएँ। यही स्वीकृति में अस्वीकृति का भाव है।

(२२) विरोध या विरोधाभास

जहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोध का आभास-मात्र हो तो वहाँ विरोध अलंकार होता है।

विरोध अलंकार में विरोध सत्य नहीं होता, उसकी केवल झलक होती है।

उदाहरण—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥

—बिहारी।

यहाँ दिखलाया गया है कि इस प्रेमी चित्त की स्थिति अत्यन्त विचित्र है क्योंकि यह ज्यों-ज्यों काले या स्याम रंग में डूबता है त्यों-त्यों वह उज्ज्वल होता जाता है। काले रंग में डूबने से उज्ज्वलता का आना विरोध है। पर यह विरोध वास्तविक नहीं है क्योंकि इसका अर्थ होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति जैसे-जैसे अनुराग बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मन में सात्त्विक भाव आता जाता है।

(२३) विभावना

जब प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो विभावना अलंकार होता है।

'विभावना' का अर्थ है विशेष प्रकार की कल्पना। इसमें कारण के अभाव में भी कार्य होने या कारण के विना भी कार्य होने का वर्णन होता है। इसलिए इसे विभावना कहते हैं।

उदाहरण—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिन बानी बकता बड़ जोगी॥

—रामायण।

यहाँ बिन पैर (पद) के चलना, बिना कान के सुनना, बिना हाथ के नाना-विध कर्म करना, मुँह के अभाव में सभी रसों का भोग करना तथा बिना वाणी के ही वक्ता होने के वर्णन में कारण के अभाव में कार्य होने क कथन है।

विभावना के भेद—विभावना के ६ भेद हैं।

(१) प्रथम विभावना—जब कारण के बिना कार्य हो तो प्रथम विभावना होती है।

उदाहरण—

बिना पान अधरान पै, लाल जु लहत प्रकास।

बिना पान के ही होंठों में लाली का रहना प्रथम विभावना है।

(२) द्वितीय विभावना—जब अपूर्ण कारण से भी कार्य के होने का वर्णन किया जाय तो द्वितीय विभावना होगी।

उदाहरण—

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।
सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥

—रामायण।

यहाँ फूल के धनुष (कुसुम के धनुष) से कामदेव का संसार को वश में करना अपूर्ण कारण से कार्य का होना है।

(३) तृतीय विभावना—जब प्रतिवंधक के रहते हुए भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो तृतीय विभावना होगी।

उदाहरण—

नैना नेकु न मानहीं, कितो कहौं समुझाय।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचतहू चलि जाहि॥

—बिहारी।

यहाँ रोकने पर भी नेत्रों का नहीं मानना प्रतिवंधक के होने पर भी कार्य का होना है।

(४) चतुर्थ विभावना—जब अहेतु या अकारण से कार्य की उत्पत्ति हो तो चतुर्थ विभावना होती है।

उदाहरण—

हँसत बाल के बदन में, यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें, झरत चमेली फूल॥

—बिहारी।

चम्पा की लता से चमेली का फूल झरना अकारण से कार्य का होना है।

(५) पंचम विभावना—जब विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो तो पंचम विभावना होगी।

उदाहरण—

बिरह निवारन को सखी, कौन कहों अब बात।
सीतल चंदन चंदहू, लगे जरावन गात ॥

यहाँ चन्दन और चन्द्रमा से शरीर (गात) का जलना विरुद्ध कारण से कार्य का होना है।

(६) षष्ठ विभावना—जब कार्य से ही कारण की उत्पत्ति हो तो षष्ठ विभावना होगी।

उदाहरण—

चंद तें लजात जलजात जग जानत है,
आज जलजात तें लजात चंद देखौ मैं ॥

चन्द्रमा को देखकर कमल बन्द हो जाता है या लजा जाता है, पर मैंने आज कमल से ही चन्द्रमा को लजाते हुए देखा। यहाँ कृष्ण के नेत्र-कमल से राधिका को लज्जित होते हुए देखने का वर्णन है। कमल से चन्द्रमा के लज्जित होने में कार्य से कारण की उत्पत्ति है।

(२४) विशेषोक्ति

अखण्ड या पूर्ण कारण के होने पर भी कार्योत्पत्ति का न होना विशेषोक्ति अलंकार है।

'विशेषोक्ति' का अर्थ है विशेष प्रकार की उक्ति। इसमें पूर्ण या पर्याप्त कारण के होते हुए भी कार्य के न होने का वर्णन किया जाता है, जो विशेष प्रकार की उक्ति है। कारण के होने पर तो कार्य होगा ही और पूर्ण कारण के होने पर जब कार्य नहीं हो तो उसे विशेष उक्ति कहते हैं।

उदाहरण—

अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥

—बिहारी।

यहाँ नेत्रों में सदा जल के रहने पर भी प्यास नहीं बुझने का वर्णन है। जो वस्तु सदा पानी में रहे और उस पर भी उसकी प्यास न बुझे तो यहाँ पर्याप्त कारण के होते हुए भी कार्य का न होना हुआ।

विशेषोक्ति के भेद—विशेषोक्ति के तीन भेद हैं-उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता।

(1) उक्तनिमित्ता—जब पूर्ण कारण के होते हुए भी कार्य न होने के कारण का कथन किया जाय तो उक्तनिमित्ता होती है।

उदाहरण—

त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय॥

—बिहारी।

जितना भी जल पीया जाय उतनी ही आँखें प्यारी रहती हैं। सुन्दर और लावण्यपूर्ण रूप को देखकर आँखों की प्यास नहीं बुझती। बार-बार जल के पीने पर भी नेत्रों की प्यास नहीं बुझने के वर्णन में पर्याप्त कारण के होते हुए भी कार्य का न होना है। पर, नमकीन जल के पीने से बार-बार जल पीने की इच्छा बनी रहती है। सलोने रूप के पीने की बात कहकर कार्य न होने का कारण कथित है।

(2) अनुक्तनिमित्ता—जब कार्य की अनुत्पत्ति का कारण कथित न हो तो अनुक्तनिमित्ता होती है।

उदाहरण—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर॥

—बिहारी।

चतुर चित्रकार के होते हुए भी नायिका का चित्र (सबी) नहीं उतरना कारण के रहते हुए भी कार्य का नहीं होना है। यहाँ कार्य के न होने का कारण कथित नहीं है।

(3) अचिन्त्यनिमित्ता—जब कार्योत्पत्ति का कारण अचिन्त्य या अज्ञात हो तो अचिन्त्यनिमित्ता होती है।

उदाहरण—

जदपि चवायनि चीकनो, चलति चहूँ दिसि सैन।
तऊ न छोड़त दुहुन के, हँसी हँसीले नैन॥

—बिहारी।

यद्यपि निन्दकों (चवायनि) की बातें चारों ओर से चलती हैं, फिर भी दोनों की प्रेम-भरी आँखें लगी ही रहती हैं। यहाँ निन्दकों द्वारा निन्दा होने पर भी नायक-नायिका की आँखों का लगा रहना वर्णित है, पर आँखों की संलग्नता का कारण अज्ञात है।

(२५) असंगति

जब कारण और कार्य की भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थिति दिखलायी जाय तो असंगति अलंकार होगा।

'असंगति' का अर्थ है संगति (साथ) का न होना। इसमें कारण कहीं होता है और कार्य कहीं, अतः कारण और कार्य में संगति नहीं रहती। कारण और कार्य के नियत सम्बन्ध का परित्याग करने के कारण इसे असंगति कहते हैं।

उदाहरण—

सीतहिं लै दसकंध गयो पै गयो है बेचारो समुन्दर बांध्यौ।

सीता को चुराकर रावण ले गया, पर बेचारा समुद्र बाँधा गया। यहाँ सीता को चुराना कार्य है और समुद्र का बाँधा जाना कारण। नियम है कि जहाँ कारण होता है, वहीं कार्य भी होता है, पर यहाँ कारण कहीं होता है और कार्य कहीं। चोरी रावण ने की थी, अतः उसी को बँधना चाहिए, पर यहाँ चोरी रावण करता है और बाँधा जाता है समुद्र। कारण और कार्य की भिन्नदेशता के वर्णन के कारण यहाँ असंगति अलंकार हुआ।

असंगति के भेद—असंगति अलंकार के तीन भेद हैं।

(१) **प्रथम असंगति**—जब कारण और कार्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर दिखाये जायँ तो प्रथम असंगति होगी।

उदाहरण—

कोयल मदमाती भई, झूमत अम्बा-मौर।

वसन्त-ऋतु में कोयल मदमाती (नशे में भर जाती है) हो जाती है, पर आम की बौर (मंजरी) झूमने लगती है। जो मतवाला होता है, उसे ही झूमना चाहिए, पर मदमाती होती है कोयल और आम की मंजरी झूमती है।

(२) द्वितीय असंगति—जो कार्य जहाँ करना चाहिए उसे वहाँ न कर दूसरी जगह करने में द्वितीय असंगति होती है।

उदाहरण—

पायन की सुधि भूलि गयी अकुलाइ महावर आँखिन दीन्ही॥

यहाँ बताया गया है कि नायिका ने, प्रिय के आगमन की खुशी में, महावर को पैर में न लगाकर आँखों में लगा दिया। पैर की वस्तु को अन्यत्र अर्थात् आँखों में लगाने के कारण यहाँ द्वितीय असंगति हुई।

(३) तृतीय असंगति—जिस कार्य को करने में कोई लगे, यदि उसके विरुद्ध कार्य कर दे तो तृतीय असंगति होगी।

उदाहरण—

मोह मिटावन हेत प्रभु, लीन्हों तुम अवतार।
उलटे मोहन रूप धरि, मोही सब ब्रजनारि ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने मोह (माया) को दूर करने के लिए अवतार लिया था, पर ब्रज की स्त्रियों को मोहित कर दिया अर्थात् उन्होंने मोहन रूप धारण कर ब्रज की स्त्रियों को मोहित कर उलटा काम किया। जिस काम के लिए आये थे, उसके विरुद्ध काम किया।

(२६) विषम

दो विसदृश (अननुरूप) पदार्थों के परस्पर संघटन को विषम कहते हैं।

विषम का अर्थ है बेमेल, विरूप या अनुरूपता-रहित। इस अलंकार में विरूप या अनुरूपता-रहित पदार्थों का संघटन होता है, इसलिए इसे विषम कहते हैं।

उदाहरण—

को कहि सकै बड़ेन सों, लखें बड़ीयै भूल।
दीने दई गुलाब की, उनि डारन वे फूल ॥

— बिहारी।

यहाँ गुलाब के सुन्दर फूल एवं काँटेदार डालों के एकत्र संघटन में दो बेमेल पदार्थों के संघटन का वर्णन है।

विषम के भेद—विषम के तीन भेद हैं।

प्रथम विषम—इसमें दो अननुरूप पदार्थों के संघटन का वर्णन होता है।

उदाहरण—

मेल मिलायौ है भलो, तुम ऊधव इक ठाम।
कहाँ कुरूपा कूवरी, कहाँ कृष्ण छविधाम ॥

यहाँ शोभा के भंडार श्रीकृष्ण और कुरूप कुब्जा के परस्पर सम्बन्ध-वर्णन में दो बेमेल पदार्थों के संघटन का कथन किया गया है।

द्वितीय विषम—जब कारण और कार्य के गुण और क्रिया एक दूसरे के विरुद्ध हों तो द्वितीय विषम होता है।

उदाहरण—

स्याम गौर दुई मूरति लछिमन राम।
इनते भइ सित कीरति अति अभिराम ॥

राम तथा लक्ष्मण के श्याम और गोरे शरीर से उज्ज्वल कीर्त्ति का प्रकट होना कारण तथा कार्य की पारस्परिक विषमता का द्योतक है।

(३) **तृतीय विषम**—जब कर्ता को अभीष्ट फल की प्राप्ति न होकर अनिष्ट लाभ हो तो तृतीय विषम होता है।

उदाहरण—

लोने मुख दीठी न लगै, यों कहि दीन्हों ईठि।
दूनो ह्वै लागन लगी, दियो दिठौना दीठि॥

—बिहारी।

सुन्दर मुख पर नज़र नहीं लगने के भय से नायिका ने अपने ललाट पर दिठौना लगा दिया। पर, उससे उसका और भी सौन्दर्य अधिक बढ़ गया और देखने वालों की भीड़ इकट्ठी होने लगी। यहाँ अभीष्ट कार्य करने में अनिष्ट की प्राप्ति का वर्णन है।

(२७) सम

अनुरूप पदार्थों के परस्पर योग्य संबंध के वर्णन में सम अलंकार होता है। 'सम' का अर्थ है—समान, बराबर या यथायोग्य। इसमें समानों के यथा-योग्य संबंध का वर्णन होता है।

उदाहरण—

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

—बिहारी।

राधा वृषभ अर्थात् बैल की बहिन (अनुजा) है तथा कृष्ण हलधर अर्थात् बैल के बीर (भाई) हैं। अतः बैल की बहिन एवं बैल के भाई का संबंध सम-तुल्य है। राधा और कृष्ण की ज़ोड़ी बराबर है।

सम के भेद—सम के तीन भेद हैं।

( ) **प्रथम सम**—जब अनुरूप वस्तुओं के यथायोग्य संबंध का वर्णन हो तो प्रथम सम होता है।

उदाहरण—

सोहत संग समान को, इहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन लगै, काजर नैनन जोग॥

यहाँ पान का होंठों के साथ एवं काजर का नैनों के साथ संबंध कथन करने में यथायोग्य संबंध का वर्णन है।

(२) **द्वितीय सम**—जब कारण के अनुकूल कार्य का वर्णन किया जाय तो द्वितीय सम होता है।

उदाहरण—

सिय जु दुसह दुख सहि लियो सुता भूमि की होय।

भूमि की सुता होने के कारण सीता का दुसह्य दुःख सहन करना कारण के अनुरूप कार्य का वर्णन है।

(३) तृतीय सम—बिना अनिष्ट के अभीष्ट की प्राप्ति के वर्णन में तृतीय सम होता है।

उदाहरण—

क—हरि ढूँढ़न ब्रज में गई, पाये गिरधर लाल ॥

यहाँ बिना किसी प्रयास के कृष्ण के मिल जाने में तृतीय विषम है।

ख—सैल बिसाल आनि कपि देहीं।
कंदुक इव नलनील सो लेहीं ॥—रामायण।

(२८) प्रतीप

जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाया जाय तो प्रतीप अलंकार होता है।

'प्रतीप' का अर्थ है विपरीत, उलटा या तिरस्कार।

इस अलंकार में प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित कर उसका तिरस्कार किया जाता है। इसमें उपमेय और उपमान का स्वाभाविक संबंध उलट जाता है, इसलिए इसे प्रतीप कहते हैं। प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित कर उपमेय के द्वारा उपमान का तिरस्कार करने में प्रतीप अलंकार होता है।

उदाहरण—

अमिय झरत चहुँ ओर सों, नयन ताप हरि लेत।
राधा जू के बदन अस, चन्द उदित केहि हेत ॥

यहाँ श्रीराधा जी के मुख से अमृत झरने की बात कहकर चन्द्रमा की व्यर्थता सिद्ध की गयी है। राधिका के मुख (उपमेय) के समक्ष चन्द्रमा (उपमान) की निष्फलता प्रदर्शित करने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार हुआ।

'राम का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।' इस वाक्य में उपमा अलंकार है। किन्तु यह कहा जाय कि 'चन्द्रमा राम के मुख के समान सुन्दर है' तो प्रतीप अलंकार होगा।

प्रतीप के भेद—प्रतीप के पाँच भेद हैं।

(१) प्रथम प्रतीप—प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर उपमान का निरादर करने में प्रथम प्रतीप होता है।

उदाहरण—

मैथिली आनन सों अरविंद, कलाधर आरसी जान परै हैं।

यहाँ सीता (मैथिली) के मुख (आनन) के समान अरविंद (कमल), कलाधर (चन्द्रमा) और आरसी (आईना) को कहा गया है, अतः प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित करने के कारण प्रथम प्रतीप हुआ।

(२) द्वितीय प्रतीप—प्रसिद्ध उपमान को उपमेय का रूप देकर उपमेय का तिरस्कार करने में द्वितीय प्रतीप होता है।

उदाहरण—

का घूँघट मुख मूँदै अबला नारि।
चंद सरग पै सोहत, यहि अनुहारि॥

यहाँ नायिका के मुख (उपमेय) के समान चन्द्रमा (उपमान) को कहकर उपमेय का तिरस्कार कराया गया है। हे नारी, तू घूँघट में मुँह क्यों छिपा रही है, तुम्हारे समान तो चन्द्रमा स्वर्ग में शोभा पा ही रहा है।

(३) तृतीय प्रतीप—उपमेय को उपमान कल्पित कर प्रसिद्ध उपमान का तिरस्कार करना तृतीय प्रतीप है।

उदाहरण—

राधे तेरो बदन बिराजत नीको।
जब इत उत तू बंक बिलोकति होत निसापति फीको॥

यहाँ राधा के देखने में निशापति (चन्द्रमा) का फीका पड़ जाना तृतीय प्रतीप है।

(४) चतुर्थ प्रतीप जब उपमान उपमेय की समता के लिए अयोग्य सिद्ध हो जाय तो चतुर्थ प्रतीप होता है।

उदाहरण—

बहुरि बिचार कीन्ह मन माँही। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
—रामायण।

यहाँ सीता के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है, ऐसा कहकर चन्द्रमा की अयोग्यता सिद्ध की गयी है।

(५) पंचम प्रतीप—उपमेय के समक्ष जब उपमान व्यर्थ हो जाय तो पंचम प्रतीप होता है।

उदाहरण—

कहा कुमुद कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊजरी होति॥
—बिहारी।

यहाँ नायिका के शरीर की कान्ति या उज्ज्वलता के समक्ष कुमुद कौमुदी (चाँदनी) और दर्पण के प्रकाश (आरसी ज्योति) के व्यर्थ होने के वर्णन में पंचम प्रतीप अलंकार है ।

(२९) उल्लेख

ज्ञाता या विषय के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन करना उल्लेख अलंकार है ।

'उल्लेख' का अर्थ लिखना या वर्णन करना है । इस अलंकार में एक वस्तु का अनेक प्रकार से चित्रण या वर्णन किया जाता है, अतः इसे उल्लेख कहते हैं । जब अनेक व्यक्ति एक पदार्थ का अनेक प्रकार से वर्णन करें या एक व्यक्ति एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन करे तो दोनों ही स्थितियों में उल्लेख होता है । इस दृष्टि से उल्लेख दो प्रकार का हो जाता है ।

उदाहरण—

मल्लनि जाम कंसहु कहर, तियनि सुजान्यो काम ।

यहाँ कृष्ण के प्रति नाना प्रकार के व्यक्ति अनेक प्रकार की भावनाएँ व्यक्त करते हैं । कृष्ण को देखकर योद्धा यमराज, कंस विपत्ति (कहर) एवं स्त्रियाँ काम समझती हैं । अनेक व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति का अनेक प्रकार से वर्णन करने के कारण यहाँ उल्लेख अलंकार हुआ । यह उदाहरण प्रथम उल्लेख का है ।

द्वितीय उल्लेख—

साधुन को सुखदानि है, दुर्जनगन दुखदानि ।
वैरनि विक्रम हानिप्रद, राम तिहारे पानि ॥

यहाँ एक व्यक्ति राम का (एक व्यक्ति का) अनेक प्रकार से वर्णन कर रहा है । राम साधुओं के लिए सुख देने व ले, दुष्टों के लिए दुःखदायी एवं वैरियों के लिए भयंकर हानिप्रद हैं ।

(३०) सहोक्ति

जब सह अर्थ वाले शब्द के बल से एक शब्द अनेक अर्थों का बोधक हो तो सहोक्ति अलंकार होता है ।

'सहोक्ति' का अर्थ है सहभाव की उक्ति । इस अलंकार में सह, साथ आदि शब्दों के द्वारा एक अर्थ से संबद्ध शब्द दो अर्थों का बोध कराता है, अतः इसे सहोक्ति कहते हैं ।

उदाहरण—

बिहँसि केलि-मंदिर गई, लख्यौ न जिय को नाथ।
नैंनन तें जल करन तें, वलय गिरे इक साथ॥

यहाँ नेत्रों से जल और हाथ से वलय चूड़ियों) का एक ही साथ गिरना वर्णित है। इस उदाहरण में नायिका के केलि-भवन में जाने पर जीवननाथ या प्रिय को न पाने के कारण नैनों से जल एवं हाथों से वलय के एक ही साथ गिरने के वर्णन में सहोक्ति है।

(३१) काव्यलिंग

किसी वाक्य या पद के अर्थ का वर्णनीय विषय के हेतु रूप में कथन करना काव्यलिंग अलंकार है।

'काव्यलिंग' शब्द का अर्थ है काव्य का कारण। इस अलंकार में किसी बात की सिद्धि के लिए उसका कारण वाक्य के अर्थ में या पद के अर्थ में दे दिया जाता है।

उदाहरण—

कनक-कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खायें बौरात नर, या पाएँ बौराय॥
—बिहारी।

इस दोहे में कवि धतूरे की अपेक्षा सोने के मद को अधिक मादक बतलाते हुए युक्ति देता है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि सोना धतूरे की अपेक्षा अधिक मादक है। इस कथन की पुष्टि के लिए उसका कारण दिया गया है कि धतूरा खाने से आदमी पागल हो जाता है और सोना पाने से।

(३२) अर्थान्तरन्यास

जब सामान्य का विशेष के साथ अथवा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाय तो अर्थान्तरन्यास अलंकार होगा।

'अर्थान्तरन्यास' का अर्थ है अन्य अर्थ (अर्थान्तर) का न्यास (रखना) या स्थापन। इस अलंकार में किसी कथन के समर्थन के लिए अन्य अर्थ की योजना की जाती है, इसलिए इसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। अर्थान्तरन्यास में सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ के साथ एवं विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ के साथ समर्थन किया जाता है। सामान्य का अर्थ अधिक देशव्यापी है और विशेष का अर्थ अल्प देशव्यापी। उदाहरण के लिए आम सामान्य है और लँगड़ा आम विशेष।

उदाहरण—

सबै सुहाएई लगैं, बसत सुहाए ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन पीत सित स्याम॥
—बिहारी।

यहाँ यह कथन किया गया है कि सुन्दर स्थान पर सभी वस्तुएँ अच्छी लगती हैं, यह सामान्य वाक्य है और इसका समर्थन विशेष वाक्य से किया गया है कि गोरे मुख पर लाल, पीली, उजली और काली सभी प्रकार की बेंदी अच्छी लगती है। यह अर्थात् द्वितीय वाक्य विशेष वाक्य है। यहाँ पूर्वार्द्ध के कथन की पुष्टि के लिए उत्तरार्द्ध वाक्य की योजना की गयी है। अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार हुआ।

अर्थान्तरन्यास के भेद—अर्थान्तरन्यास के मुख्य दो भेद हैं—

(१) सामान्य का विशेष द्वारा समर्थन—

(२) विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन—

(१) सामान्य का विशेष द्वारा समर्थन—जब सामान्य अर्थ का समर्थन विशेष अर्थ से हो तो प्रथम भेद होता है।

उदाहरण—

बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरो सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥
—बिहारी।

झूठी प्रशंसा से कोई बड़ा नहीं हो सकता जब तक कि उसमें गुण न हो। यह सामान्य वाक्य है और इसका समर्थन विशेष वाक्य से किया गया है कि धतूरे को भी कनक (सोना) कहते हैं, पर उससे गहना नहीं गढ़ा जा सकता। यहाँ प्रथम सामान्य वाक्य है और उसका समर्थन द्वितीय विशेष वाक्य से किया गया है।

(२) विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन—जब विशेष कथन का समर्थन सामान्य कथन से हो तो द्वितीय प्रकार होता है।

उदाहरण—

हरि प्रताप गोकुल बच्यो, का नहिं करहिं महान्॥

कृष्ण के प्रताप से गोकुल बच गया। यह विशेष वाक्य है। इसका समर्थन 'महान् व्यक्ति क्या नहीं कर सकते।' इस सामान्य वाक्य से किया गया है। यहाँ द्वितीय भेद हुआ।

(३३) परिसंख्या

एक पदार्थ की अन्य स्थानों में स्थिति संभव होने पर भी, अन्यत्र निषेध कर एक स्थान में उसका नियंत्रण कर देना परिसंख्या अलंकार है।

'परिसंख्या' का अर्थ है परि—(छोड़कर) वर्जन एवं संख्या का वर्णन अर्थात् नियंत्रण। इसका अर्थ हुआ कि किसी संदर्भ में अन्यों का भी कथन संभव था, किन्तु उनको छोड़कर किसी एक ही का कथन करना परिसंख्या है। अभिप्राय यह कि किसी पदार्थ की अनेकत्र स्थिति संभव रहने पर भी अन्यों का वहाँ से निषेध कर उस वस्तु का एक ही स्थल पर नियमन कर देना परिसंख्या है।

उदाहरण—

(क) दंड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहिं मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

—रामायण।

यहाँ कहा गया है कि रामचन्द्र के राज्य में दंड यतियों (संन्यासी) के हाथ में, भेद नर्तकों के नृत्य-समाज में एवं जीतना केवल मन के लिए ही था। दंड, भेद और जीतना कर्म की अन्य स्थानों में भी स्थिति सम्भव थी, पर उन्हें वहाँ से हटा के संन्यासी, नर्त्तक एवं मन में स्थापित कर देने के कारण परिसंख्या हुई।

(ख) पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहत, आनन ओप उजास॥

—बिहारी।

सखी नायिका के मुख की प्रशंसा करती हुई कहती है कि उसके (नायिका के) घर के पास पत्रा में ही तिथि मिलती है, क्योंकि उसके मुख की चमक और प्रकाश से वहाँ नित्य ही पूर्णमासी की छटा छिटकती रहती है। तिथि की स्थिति अन्य स्थानों में भी हो सकती थी, पर उसका वहाँ से निषेध कर पत्रा में ही नियन्त्रित कर देने के कारण यहाँ परिसंख्या अलंकार हुआ।

(३४) मीलित

उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु में तादृश वस्तु के छिप जाने से किसी प्रकार की भिन्नता का न रहना मीलित अलंकार है।

'मीलित' का अर्थ है मिला हुआ, मिल जाना, छिप जाना। जब सादृश्य के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु विलीन हो जाय और दोनों में किसी प्रकार के भेद का ज्ञान न रह जाय तो वहाँ मीलित अलंकार होगा।

उदाहरण—

(क) बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥—बिहारी।

यहाँ गुलाब की पंखुड़ी का नायिका के कपोल (गाल) में सटकर रंग, गन्ध तथा सौकुमार्य के अत्यधिक साम्य के कारण मिलकर एक हो जाने का वर्णन है। नायिका के कपोल की लालिमा, सुगन्धि तथा सुकुमारता का गुलाब की पंखुड़ी के साथ अत्यधिक साम्य है। दोनों मिलकर इस प्रकार एक हो गए हैं कि कपोल पर सटी हुई पंखुड़ी का पृथक् अस्तित्व रह नहीं जाता। अतः यहाँ समान गुण के कारण दो वस्तुओं के मिलकर एक हो जाने के वर्णन में मीलित अलंकार हुआ।

(ख) पान पीक अधरान में, सखी लखी ना जाय।
कजरारी अँखियान में, कजराहू न लखाय॥

लाल-लाल होंठों में पान की पीक का नहीं दिखायी पड़ना एवं कजरारी आँखों में काजल का ज्ञान न होने के वर्णन में मीलित अलकार है।

(३५) उन्मीलित

एक वस्तु में दूसरी वस्तु के छिप जाने पर किसी कारण-विशेष से भेद का ज्ञान होना उन्मीलित है।

'उन्मीलित' का अर्थ है खुला हुआ, (उत् + मीलित) उन्मीलन या प्रकट होना। इस अलंकार में एक वस्तु में दूसरी वस्तु के छिप जाने पर भी किसी कारण-विशेष से भेद का ज्ञान होता है। यह मीलित अलंकार का उलटा है। मीलित में किसी कारण से भेद की प्रतीति होने पर उन्मीलित अलंकार होता है।

उदाहरण—

मिलि चंदन बेंदी लगे, गोरें मुख न लखाय।
ज्यौं-ज्यौं मद-लाली चढ़ै, त्यौं-त्यौं उघरति जाय॥—बिहारी।

नायिका के गोरे शरीर में चन्दन की बेंदी (उजले रंग की) का रंग मिल जाने पर भी मद की लाली के चढ़ने से उसका स्पष्ट हो जाना उन्मीलित है। मुँह एवं चन्दन के रंग में उज्ज्वलता होने के कारण अभेद ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु मद की लाली के चढने से बेंदी मुख से भिन्न दिखाई पड़ती है। यहाँ कारण-विशेष या मद-लाली के चढ़ने से दो पदार्थों में साम्य होने पर भी भेद की प्रतीति का होना उन्मीलित है।

(३६) सामान्य

जब समान गुण के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की एकरूपता का कथन किया जाय तो सामान्य अलंकार होता है।

'सामान्य' का अर्थ है समानता, सादृश्य या समान गुण-निबन्धन। जिसमें समानता का भाव हो, उसे सामान्य कहते हैं। इसमें समान गुण के कारण प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ एकरूपता का प्रतिपादन किया जाता है।

उदाहरण—

(क) जटित जवाहर तन झलक, मिलि मसाल के जाल।
नैक नहीं जानी परत, यह मसाल यह बाल॥

यहाँ जवाहर से जटित शरीर की छटा का मसाल की चमक में मिलकर एक हो जाने का वर्णन है। नायिका के शरीर की कांति मसाल की प्रभा में इस प्रकार मिल गयी है कि दोनों के अन्तर का भान न होकर एकात्म्य स्थापित हो जाता है। यहाँ सदृश गुण के कारण दो पदार्थों के तादात्म्य-प्रतिपादन का वर्णन होने से सामान्य अलंकार है।

(ख) जानी न जात मसाल औ बाल, गुपाल गुलाल चलावत चूकैं॥

(३७) ब्याजोक्ति

प्रकटित रहस्य को किसी ब्याज (बहाने, छल) से छिपाने के वर्णन को ब्याजोक्ति कहते हैं।

'ब्याजोक्ति' का अर्थ है कपटपूर्वक कथन। ब्याज (बहाने) से उक्ति (कथन)। इस अलंकार में रहस्यपूर्ण बात को, किसी प्रकार प्रकट होने पर, छलपूर्वक छिपाया जाता है। जब छिपा हुआ रहस्य किसी प्रकार प्रकट हो जाय और उसे किसी बहाने से छिपाया जाय तो वहाँ ब्याजोक्ति अलंकार होगा।

उदाहरण—

ललन चलन सुनि पलन में; अँसुवा झलके आय।
भई लखाइ न सखिनहू, झूठे ही जमुहाय॥—बिहारी।

प्रिय के दूर देश जाने का समाचार सुनकर नायिका की आँखों में अश्रु आ गए, किन्तु वह सहेलियों के बीच बैठी हुई थी, अतः उसने इस रहस्य को छिपाने के लिए झूठ की अँगड़ाई लेना प्रारम्भ कर दिया। उसने अँगड़ाई लेकर सखियों को दिखा दिया कि उसकी आँखों में अश्रु अँगड़ाई के कारण आये हैं, प्रिय के विदेश गमन का समाचार सुनकर नहीं। यहाँ क्रिया द्वारा प्रकट हुए रहस्य का गोपन हुआ है।

(३८) तद्गुण

अपने गुण का त्याग कर निकटवर्ती उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु का गुण ग्रहण करना तद्गुण अलंकार है।

तद्गुण का अर्थ है उसका गुण। इस अलंकार में एक पदार्थ अपने गुण को छोड़कर निकटस्थ अधिक गुण वाले पदार्थ के गुण को ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण—लै चुभकी चलि जात जित, जित जल-केलि अधीर।
कीजत केसर नीर से, तित-तित केसर नीर ॥—बिहारी।

नायिका सरोवर में स्नान कर रही है, उस समय तालाब अपना रंग छोड़कर नायिका के शरीर में लगे केसर के रंग को ग्रहण कर लेता है। यहाँ तालाब का केसर के रंग को ग्रहण करने में तद्गुण अलंकार है।

(३९) अतद्गुण

संभव होने पर भी, निकटवर्त्ती उत्कृष्ट वस्तु के गुण को न ग्रहण करने में अतद्गुण अलंकार होता है।

यह तद्गुण का उलटा अलंकार है। 'अतद्गुण' का अर्थ है उसका गुण ग्रहण नहीं करना। इस अलंकार में अल्प गुण वाली वस्तु (कम गुण वाली) उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के समीप रहकर भी उसके गुण को ग्रहण नहीं करती।

उदाहरण—पिय अनुरागी ना भए, बसि रागी मन माँहि ॥

रागी मन के निकट रहकर भी प्रिय का रांग नहीं ग्रहण करने में अतद्गुण अलंकार है।

(४०) स्वभावोक्ति

किसी पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया या स्वरूप का तद्वत् वर्णन करने में स्वभावोक्ति अलंकार होता है।

'स्वभावोक्ति' का अर्थ है स्वभाव का कथन। इसमें किसी की जातिगत या स्वभावगत विशेषता का वास्तविक एवं चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाता है। स्वभावोक्ति अलंकार के अन्तर्गत बच्चों की क्रीड़ाओं तथा प्राकृतिक दृश्य का वर्णन होता है।

उदाहरण—मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसो, सदा बिहारी लाल ॥

यहाँ कृष्ण की स्वाभाविक वेश-भूषा का वर्णन करने में स्वभावोक्ति अलंकार है।

उभयालंकार

जितने अलंकारों का वर्णन किया गया है, उनके मिश्रण को उभयालंकार या मिश्रालंकार कहते हैं। इसमें शब्दालंकार एवं अर्थालंकार परस्पर मिले रहते हैं या एक ही संदर्भ में एकाधिक अलंकारों का मिश्रण होता है। कभी-कभी अनेक शब्दालंकारों का या अनेक अर्थालंकारों का भी मिश्रण होने पर उभयालंकार होता है। यह मिश्रण दो प्रकार से होता है, तिल की भाँति या तंडुल की तरह। तिल और तंडुल की भाँति या नीर और क्षीर की तरह। जिस प्रकार तिल और चाव को आसानी से एक दूसरे से अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार तिलतण्डुल की भाँति मिले हुए अनेक अलंकारों को भी अलग किया जा सकता है। अलंकारों का दूसरा मेल नीर-क्षीर (जल और दूध) की तरह होता है। वहाँ एक अलंकार दूसरे से इस प्रकार मिला रहता है कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। तिल-तण्डुल की भाँति मिले हुए अलंकार को संसृष्टि एवं नीर-क्षीर की भाँति मिश्रित अलंकारों को संकर कहते हैं। इसी मिश्रण के अनुसार उभयालंकार के दो भेद होते हैं—संसृष्टि और संकर।

(१) संसृष्टि

जब तिल और तण्डुल की भाँति अनेक अलंकार एक स्थान पर स्वतंत्र रूप में मिले हुए दिखायी पड़ें तो संसृष्टि अलंकार होता है।

'संसृष्टि' का अर्थ संयोग या मेल है। मेल से यहाँ अभिप्राय अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति से है। जब तिल और तण्डुल की भाँति दो या दो से अधिक शब्दालंकार या अर्थालंकार एक स्थान पर मिले हों तो संसृष्टि अलंकार होता है!

उदाहरण—

मार सु मार करी खरी, डरी अरी अकुलाइ।
हरि हरिये बलि बिरह चली, मुख-सुखमा दरसाइ॥
—बिहारी।

यहाँ मार (कामदेव) और मार (मारना) हरि (कृष्ण) और हरि (हरण करो, दूर करो,) में यमक तथा करी, खरी, डरी, अरी एवं बलि, बिरह में अनुप्रास है। एक स्थान पर यमक और अनुप्रास के मिश्रण में यहाँ संसृष्टि अलंकार हुआ।

(२) संकर

जब नीर-क्षीर की भाँति अनेक अलंकारों का परस्पर मिश्रण हो तो संकर अलंकार होगा।

'संकर' का अर्थ मिला हुआ है। इस अलंकार में अनेक अलंकार इस प्रकार मिले रहते हैं कि उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। वे परस्पर दूध और पानी की तरह मिले हुए रहते हैं।

उदाहरण—

सिंधु-सेज पर धरा वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी ॥

यहाँ 'सिंधु-सेज' में रूपक और अनुप्रास का परस्पर मिश्रण दूध और जल की तरह हुआ है।

पिंगल या छन्दशास्त्र

छन्द का स्वरूप

पद्य-रचना के लिए जिन-जिन नियमों की आवश्यकता होती है उनका वर्णन छन्दशास्त्र में किया जाता है। मानव सभ्यता की तरह छन्द भी बहुत प्राचीन है। इसका संकेत वेदों में प्राप्त होता है। वैदिक भाषा का प्राचीन नाम छांदस् भी है, जो छंद की प्राचीनता का द्योतक है। वेदांग के अन्तर्गत उसके एक महत्त्वपूर्ण अंग में छन्द की गणना होती है। वेदांग के छह अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। बिना छन्द-ज्ञान के वेद-मन्त्रों का अर्थ जानना अत्यन्त कठिन है।

छन्दों में आबद्ध होकर कविता नाद-सौन्दर्य से युक्त हो जाती है। छन्दोबद्ध रचना में संगीत-तत्त्व वर्त्तमान रहता है जिससे कविता श्रवण-सुखद हो जाती है, साथ ही उसे आसानी से कण्ठस्थ भी किया जा सकता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने [1]छन्दोबद्ध पद्य को पद्य की संज्ञा देकर छन्द का महत्त्व प्रतिष्ठित किया है।

वैदिककाल में छन्द देवताओं को प्रसन्न करने वाले साधन के रूप में प्रयुक्त होता था। 'ऋक्प्रातिशाख्य' में वैदिक छन्दों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उसमें ६१ छन्दों तथा १४ अतिछन्दों के अतिरिक्त मिश्रित छन्दों के भी विवरण प्राप्त होते हैं। प्रसिद्ध वैदिक छन्दों में गायत्री (१ से २४ वर्ण), उष्णिक् (२८ वर्ण), अनुष्टुभ् (३२), बृहती (३६), पंक्ति (४०), त्रिष्टुभ् (४४), जगती (४८), अतिजगती (५२), शक्वरी (५६), अतिशक्वरी (६०), अष्टि (६४), अत्यष्टि (६८), धृति (७२), कृति (८०), प्रकृति (८४), आकृति (८८), विकृति (९२), संकृति (९६), अधिकृति (१००) एवं उत्कृति (१०४) प्रसिद्ध हैं। छन्द को वेद-पुरुष का चरण माना जाता है—छन्दः पादौ तु वेदस्य। पुरुषसूक्त में छन्द का प्रयोग ऋक्, यजुः और साम के अर्थ में किया गया है।

छन्द का अर्थ बन्धन होता है। पद्य को छन्दशास्त्र के नियम से बाँध दिया जाता है, अतः इसे छन्द कहते हैं। हलायुध भट्ट ने 'पिंगलच्छन्दसूत्र' की टीका में छन्द को अक्षरसंख्या का परिणाम कहा है।[2] वैदिक छन्द अक्षर-प्रधान होते थे।

---

१. छन्दोबद्धं पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्। साहित्यदर्पण, ६ ३१४।

२. छन्दः शब्देनाक्षरसंख्यावच्छन्दोऽत्राभिधीयते। २।१।

अतः यह परिभाषा उन पर लगती है, किन्तु वैदिकेतर छन्दों में यह लक्षण व्यर्थ सिद्ध होता है। आधुनिक युग में श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने छन्द की परिभाषा देते हुए कहा कि "जिस पद-रचना में मात्रा या वर्ण, यति, गति के नियमों का अनुकरण होता है और अन्त में अन्त्यानुप्रास होता है, वह छन्द है।"

मत्त वरण यति गति नियम, अन्तहिं समता बन्द।
जा पद रचना में मिलैं, भानु भनत सोइ छन्द॥

—छन्दः प्रभाकर, पृ० १।

डॉ० पुत्तुलाल शुक्ल ने छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है। "सामान्य धारणा के अनुसार जातीय संगीत और भाषावृत्ति के आधार पर निर्मित लयादर्श की आवृत्ति को छन्द कहते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी उच्चारण पद्धति होती है, उसी के आधार पर वहाँ की जनता अपने संगीत और गीतों को ढालती है।"[१]

छन्द को पिंगल भी कहते हैं। पिंगल नाम पड़ने का कारण है पिंगल ऋषि द्वारा छन्दशास्त्र की सृष्टि। संस्कृत व्याकरण के प्रणेता पाणिनि पिंगल के सहोदर भ्राता थे। पाणिनि ने गद्य का व्याकरण लिखा तो पिंगल ने पद्य का व्याकरण बनाया। पिंगल ऋषि शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है कि शेषनाग ने सहस्रमुख से हजार प्रकार के छन्दों की रचना की थी, इसीलिए उसमें जटिलता आ गयी। पिंगल पद्य का व्याकरण है। जिस प्रकार व्याकरण-ज्ञान के बिना न तो कोई शुद्ध लिख सकता है और न बोल ही सकता है, उसी प्रकार पद्य-रचना पिंगल के अभाव में सुन्दर नहीं बन सकती। बिना छन्दशास्त्र से अवगत हुए पद्य-रचना में अशुद्धियों का हो जाना सहज संभाव्य है। किस पद्य में कितने वर्ण होते हैं और कितनी मात्राएँ होती हैं, लघु-गुरु का विधान क्या है? किस रस की रचना के लिए किस छन्द की आवश्यकता होती है एवं प्रत्येक छन्द का स्वरूप क्या है. आदि बातों का विवेचन पिंगल या छन्दशास्त्र में होता है।

वर्ण और मात्रा

अक्षर के दो रूप होते हैं––ह्रस्व और दीर्घ। किसी वर्ण के उच्चारण करने में जो समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। ह्रस्व वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसे एक मात्रा कहते हैं। दीर्घ वर्ण के उच्चारण में ह्रस्व से दूना समय लगता है, अतः इसकी मात्रा दीर्घ होती है। छन्दशास्त्र में ह्रस्व को

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४।

'लघु' एवं दीर्घ को 'गुरु' कहते हैं। वहाँ इनका उल्लेख 'ल' एवं 'ग' (लघुवर्ण, गुरुवर्ण) के रूप में होता है। लघु के लिए खड़ी रेखा (।) एवं गुरु के लिए टेढ़ी रेखा (ऽ) का प्रयोग किया जाता है।

एक मात्रो भवेद्ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥

—'श्रुतबोध'

तीन मात्रा वाले अक्षर को प्लुत कहा जाता है और व्यञ्जन आधे मात्रा वाले होते हैं।

वर्णोच्चारण करत में जो हो समय व्यतीत ।
मात्रा ताको कहत हैं छंदसास्त्र की रीति ॥
लघु अक्षर जिहि ह्रस्व कहँ ताकी मात्रा एक ।
गुरु अक्षर जिहिं दीर्घ कहँ सो द्वै मत्त बिबेक ॥
त्रैमात्रा को पुलित कह गान सास्त्र में होय ।
अर्धमात्र व्यञ्जन कहत जानहु सब कवि लोय ॥

—श्री बिहारीलाल भट्ट—साहित्य-सागर, भाग २।

ह्रस्व और दीर्घ का नियम

(१) संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण दीर्घ माना जाता है; जैसे सत्य। यहाँ 'त्य' संयुक्त वर्ण है अतएव 'स' दीर्घ माना जाएगा। इस प्रकार यदि संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण लघु (ह्रस्व) हो तो वह पद्य में दीर्घ (गुरु) माना जाएगा।

दो शब्दों के समास में यदि दूसरे शब्द का पहला अक्षर संयुक्त हो तो उसके पहले का लघु अक्षर दीर्घ माना जाएगा। जैसे; हरप्रसाद। यहाँ 'र' दीर्घ माना भी जा सकता है और नहीं भी। कही-कहीं संयुक्त वर्ण के पूर्व का अक्षर दीर्घ नहीं होता है। जैसे; कुम्हार, कुल्हाड़ी आदि।

(२) अनुस्वार-युक्त वर्ण दीर्घ (गुरु) होता है। जैसे, शकर। यहाँ 'शं' गुरु है। पर जहाँ चन्द्रविन्दु (ँ) होगा वहाँ सानुनासिक अक्षर (वर्ण) लघु (ह्रस्व) होगा। जैसे हँसी। यहाँ 'हँ' लघु है।

(३) विसर्ग-युक्त वर्ण गुरु होता है। जैसे, पुनः। यहाँ 'नः' दीर्घ (गुरु) माना जाएगा।

(४) हलन्त के पूर्व का अक्षर गुरु (दीर्घ) होता है, किन्तु हलन्त की मात्रा की गणना नहीं की जाती। जैसे, श्रीमन्। यहाँ 'म' दीर्घ है, पर 'न्' की मात्रा नहीं जोड़ी जा सकती।

(५) संयुक्त अक्षर बराबर दीर्घ (गुरु) होता है। जैसे, प्रश्न। यहाँ 'प्र' गुरु है।

(६) छन्द के चरण के अन्त में आवश्यकतानुसार ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ मान लिया जाता है। जैसे--

दुखित हैं धनहीन, धनी सुखी।

यह विचार परिष्कृत है यदि। यहाँ 'यदि' की 'दि' को दीर्घ माना जाएगा। उपर्युक्त मत को छन्दोमंजरीकार ने इस प्रकार रखा है—

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पाद न्तगोऽपि वा॥

—छन्दोमंजरी, १। १।

हो अनुस्वार विसर्ग जहँ ताकों द्वै कल जान।
अर्धचन्द्र बिंदी जहाँ तहाँ मत्त इक मान॥
द्वित्व वर्ण के आदि कौ वर्ण दीर्घ लख लेव।
उदाहरण क्रमशः सकल सुकवि सरुचि चित देव॥

—साहित्य-सागर।

छन्दों के भेद

वेदों में छन्दों का वर्णन है। वैदिक छन्द लौकिक छन्दों से भिन्न होते हैं। वैदिक और लौकिक के नाम से छन्दों के दो प्रकार होते हैं। लौकिक छन्द मात्रा और वर्ण के अनुसार दो प्रकार के होते हैं—मात्रिक और वर्णिक। मात्रिकछन्द उसे कहते हैं जिसमें अक्षर की मात्रा के अनुसार नियम बनाये जाते हैं, पर वर्णिक छन्दों में वर्णों के आधार पर नियम का निर्धारण होता है। मात्रिक छन्द को 'जाति' कहते हैं और वर्णिक को वृत्त। प्रत्येक छन्द की पंक्तियों को चरण कहते हैं। ये पंक्तियाँ चार होती हैं। "वर्णिक और मात्रिक छन्दों की मोटी पहचान यह है कि वर्णिक वृत्तों में क्रम या लघु और गुरु वर्णों का स्थान नियत होता है। यदि एक पाद का पहला या तीसरा या कोई और अक्षर गुरु है तो सब पादों में उस नम्बर के अक्षर गुरु ही होंगे। परन्तु मात्रा-छन्दों में क्रम नहीं होता। उनमें केवल मात्राओं की संख्या पूरी होती है। क्रम ही वर्णिक छन्दों का प्रधान लक्षण है और क्रम का न पाया जाना निश्चित तौर पर मात्रा-छन्दों का द्योतक है।"[1]

पादों की रचना के अनुसार छन्दों के तीन भेद होते हैं—सम, अर्धसम और विषम।

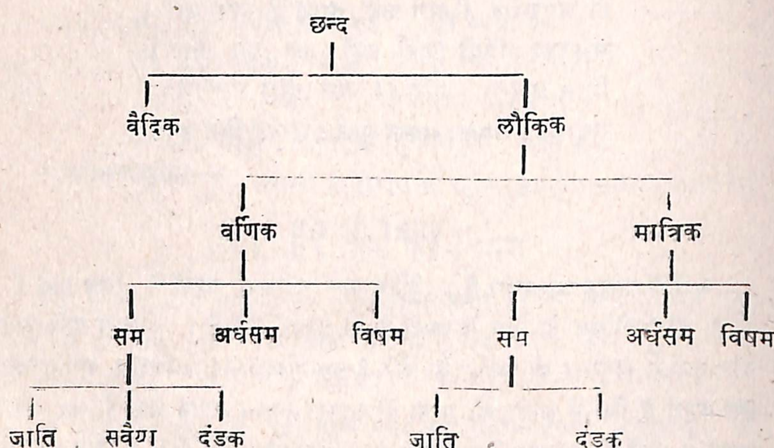
---

१. पं० रघुनन्दन शास्त्री—हिन्दी छन्दशास्त्र, पृ० ४५।

(१) **सम**—जिन छन्दों के चारों पादों में एक ही लक्षण दिखाई पड़े उन्हें सम कहते हैं। हिन्दी में मात्रिक छन्द १ से ३२ मात्राओं के पाद वाले साधारण या 'जाति' छन्द कहे जाते हैं तथा १ से ३२ मात्राओं तक के पाद वाले 'दंडक' या कवित्त माने जाते हैं। इसी तरह वर्णिक छन्दों में १ से २१ तक के प्रति पाद वर्ण वाले छन्द 'जाति' एवं २२ से ३६ अक्षर वालों को 'सवैया' कहते हैं। २६ से अधिक अक्षर वाले छन्दों को 'दंडक' कहा जाता है। सवैया की गणना 'जाति' में ही होती है।

(२) **अर्धसम**—जिन छन्दों के प्रथम एवं तीसरे चरण समान हों और द्वितीय पाद चतुर्थ पाद के समान हो तो उसे अर्धसम कहा जाता है। दोहा, सोरठा आदि छन्द अर्धसम श्रेणी में आते हैं।

(३) **विषम**—जिनका कोई पाद एक समान न हो उसे विषम कहते हैं।



गण

वर्णिक और मात्रिक छन्दों के लक्षण बतलाने के लिए छन्दशास्त्र में गणों का विधान किया गया है। गणों का ज्ञान वर्णिक छन्दों के लिए आवश्यक है। मात्रिक छन्दों के लिए जिन गणों की व्यवस्था की गयी है उनके बिना भी काम चल जा सकता है, किन्तु वर्णिक छन्दों में गणों की जानकारी आवश्यक है। वर्णिक छन्दों में व्यवहृत होने वाले गणों का सामान्य लक्षण है 'तीन अक्षरों का समूह', किन्तु मात्रिक छन्दों में प्रयुक्त होने वाले गणों की मात्राओं का समूह भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

मात्रिक गण पाँच प्रकार के होते हैं—टगण, ठगण, डगण, ढगण और णगण। इनमें टगण ६, ठगण ५, डगण ४, ढगण ३ और णगण २ मात्राओं के

समूह का होता है। मात्रिक गणों का स्वरूप एक-सा नहीं रहता है; क्योंकि ज्यों-ज्यों इनकी मात्राएँ अधिक होती जाती हैं इनके स्वरूपों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

वर्णिक गण में तीन अक्षरों के समूह की संज्ञा 'गण' है। प्रत्येक अक्षर लघु (।) और गुरु (ऽ)- दो तरह का होता है। तीन अक्षर वाले इस गण के आठ रूप होते हैं—

नाम	—	चिह्न	—	संकेत	—	स्वरूप
१. मगण	—	ऽऽऽ	—	म	—	कौसल्या
२. यगण	—	।ऽऽ	—	य	—	सुमित्रा
३. रगण	—	ऽ।ऽ	—	र	—	कैकयी
४. सगण	—	।।ऽ	—	र	—	सरयू
५. तगण	—	ऽऽ।	—	त	—	साकेत
६. जगण	—	।ऽ।	—	ज	—	बसिष्ठ
७. भगण	—	ऽ।।	—	भ	—	राघव
८. नगण	—	।।।	—	न	—	भरत

गणों के स्वरूप को जानने के लिए निम्नांकित गुजराती सूत्र अत्यन्त आसान है—

'यमाताराजभानसलगा'।

इस सूत्र में कुल १० अक्षर हैं जिनमें आठ अक्षर आठ गणों के प्रतिनिधि हैं तथा ल और ग लघु और गुरु के। इस सूत्र के अनुसार किसी भी गण का स्वरूप इस प्रकार जाना जा सकता है। जिस गण का स्वरूप जानना हो उसी गण के नाम से सूत्र की गणना प्रारम्भ करें। तत्पश्चात् उसके बाद के दो अक्षरों को और जोड़ दें। बस, अभीष्ट गण का स्वरूप निकल जायगा। मान लीजिए कि आप जगण का स्वरूप जानना चाहते हैं तो सूत्र के 'ज' अक्षर से प्रारम्भ कर उसके बाद के 'भा' और न को जोड़ दीजिए। अब 'जभान' शब्द बना और इसका रूप हुआ ।ऽ।। इस प्रकार ज्ञात हुआ कि जगण लघु, गुरु और लघु से युक्त होता है। इसी प्रकार अन्य गणों का भी स्वरूप जाना जा सकता है।

गणों का शुभाशुभ-विचार

गणों में कुछ तो शुभ हैं और कुछ अशुभ। शुभ गणों का प्रयोग सभी स्थान में होता है, किन्तु अशुभ गणों का प्रयोग सर्वत्र नहीं होता। अशुभ गणों का विधान कविता के आदि में नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का प्रयोग अमंगल-सूचक है। कुछ लोगों के अनुसार प्रत्येक पद्य के प्रारम्भ में अशुभ गणों का

प्रयोग त्याज्य है तो कुछ लोगों के मत से ग्रन्थ के आरम्भ में अथवा जहाँ से प्रकरण प्रारम्भ होता है, वहाँ अशुभ गणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किन्तु वर्णवृत्तों में यह नियम अधिकांशतः लागू नहीं होता। इसका कारण यह है कि वर्णवृत्तों में ऐसा नियम रहता है कि अमुक गण आदि में रहें। अतएव वह गण शुभ हो या अशुभ, कविता लिखते समय उसका प्रयोग अवश्य किया जाएगा। इसलिए आचार्यों ने यह नियम बनाया कि यदि वर्णवृत्तों में अशुभ वर्ण भी रहें तो वहाँ देवतावाचक या मंगलवाचक शब्दों के रख देने से दोष हट जाता है। किन्तु यह नियम केवल नर-काव्य के लिए है, देवकाव्य के लिए नहीं। शुभाशुभ के आधार पर इन गणों का नामकरण भी हुआ है और उनके फल भी बताए गए हैं।

विवरण	नाम	गण	देवता	फल
शुभ	मित्र	मगण	भूमि	लक्ष्मी
		नगण	स्वर्ग	आयु
	दास	भगण	चन्द्रमा	यश
		यगण	जल	वृद्धि
अशुभ	उदासीन	जगण	सूर्य	रोग
		तगण	आकाश	धनहानि
	शत्रु	रगण	अग्नि	विनाश
		सगण	वायु	देशाटन

शुभाशुभ वर्ण

इसी प्रकार अक्षरों के शुभाशुभ पर भी विचार किया गया है। सभी स्वर शुभ हैं। व्यंजनों में से ङ, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष, ह के अतिरिक्त शेष वर्ण शुभ हैं। कविता के आदि में संयुक्ताक्षर का रखना अशुभ माना जाता है। उपर्युक्त अशुभ व्यंजनों में से पाँच अक्षर अत्यन्त अशुभ माने जाते हैं और इन्हें दग्धाक्षर कहा जाता है। वे हैं—झ, भ, र, ह, ष। इनका प्रयोग कविता के आदि में सर्वथा त्याज्य है, किन्तु देवतावाचक एवं मंगलवाचक शब्दों के आदि में आ जाने से दोष का परिहार हो जाता है।

पिंगल के उपर्युक्त नियमों का वर्णन कविवर बिहारीलाल भट्ट ने इस प्रकार किया है—

ग्रन्थ काव्य के आदि में गण को लेय सम्हार।
पुनि आगे न बनें-बनें ताकौ नहीं बिचार॥
जितने मात्रिक छंद हैं गण को रखैं प्रमान।
वर्णवृत्त गणवृत्त में याकौ नहीं बिधान॥

छंद आदि आवै कुगण लेवै दुगण बिचार।
फेर कुगण कौ दोष नहिं कविजन करत सम्हार॥
मंगल-सु-वाची सबद गुरु होवै पुनि आदि।
दग्धाक्षर कौ दोष नहिं अरु गण दोषहु बादि॥
देव-भद्र-वाची गुरु शब्द यहै निर्दोष।
यामें नहीं बिचारिए दग्धाक्षर गण-दोष॥
प्रथम तीसरे चरन में जगन तहाँ लख लेव।
सो दोहा चंडालिनी सकल सुकवि तज देव॥
तीन वर्ण में शब्द कौ दूजो मेल जो होय।
खंडित गण ताकों कहत दोष न मानो कोय॥
पंच झ ह र भ ष वर्ण यह आदि न राखो कोय।
मंगल सुर गुरु युक्त हों, तो फिर दोष न होय॥
तीन गुरु, तीन लघु, आदि गुरु आदि लघु,
म, न, भ, य चार यही शुभ गण माने हैं;
मध्य गुरु, मध्य लघु, अंत गुरु, अंत लघु,
ज, र, स, त चार ये अशुभ गण माने हैं।
भूमि, नाक, चन्द्र, नीर, सूर, अग्नि, वायु, नभ,
पूर्व सुखप्रद, पर दुःखप्रद माने हैं;
कहत 'बिहारी' यों बिचार कर आछी भाँति,
एक ही कवित्त में गणागण बखाने हैं॥

—साहित्य-सागर, भाग १।

मात्रिक छन्द—सम

(१) तोमर—इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) का विधान होता है।

सुनु दान मानस हंस।
रघुवंस के अवतंस॥
मन माँहि जो अति नेहु।
इक वस्तु माँगहि देहु॥—केशव।

(२) उल्लाला—इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं। इसमें लघु-गुरु का विशेष नियम नहीं है।

पर-हित-साधन कीजिए; जग-जीवन जस लीजिए।
संत सुरन सिर नाइए; नन्द-नन्दन गुन गाइए॥

—साहित्य-सागर।

(३) चौपई—इसके प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु-लघु होते हैं।

पर-हित सम नहिं साधन और। कृष्ण-चरन-सम और न ठौर ॥
सत्य वचन सम तप नहिं आन। जे साधें ते परम सुजान ॥

(४) चौपाई—चौपाई के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। तुकान्त में जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ।) नहीं आएँ और अन्त में दो गुरु वर्ण हों।

बंदौं गुरु-पद-पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥
अमिय मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भव-रुज परिवारू ॥

(५) पद्धरि—इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। आठ-आठ मात्राओं पर विश्राम होता है और तुकान्त में जगण (।ऽ।) होता है।

शुभ सौम्य मूर्त्ति, तेजोनिधान। हो अन्य भानु, ज्यों भासमान ॥
ध्यानस्थ स्वरथ, सद्धर्म-धाम। भगवान व्यास तुमको प्रणाम ॥

(६) अरिल्ल—इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में भगण या यगण होता है।

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। नयन-अमिय दृग-दोष-बिभंजन ॥
तेहि कर बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥

(७) रोला—रोला छन्द के प्रत्येक चरण में ११, १३ की यति (विश्राम) पर २४ मात्राएँ होती हैं। इसमें चार चरण होते हैं।

कहुँ सुन्दरी नहात, बारि कर जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त, गुच्छ जनु सुच्छ निकारत ॥
सुन्दरि मुख ससि-वदन, करन अतिहि छबि पावत।
बारिध नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ॥

—सत्यहरिश्चन्द्र नाटक।

(८) हरिगीतिका—इसके प्रत्येक चरण में १६ और १२ के विश्राम पर २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में लघु-गुरु होते हैं। इसकी मात्राओं का क्रम ऐसा रहे—२ + ३ + ४ + ३ + ४; ३ + ४ + ५।

वे मोह-बन्धन मुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे।
संपूर्ण सुख-संयुक्त थे, वे शान्ति शिखरासीन थे ॥
मन से, वचन से, कर्म से, वे प्रभु-भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द-नद के, वे मनोहर मीन थे ॥

—गुप्त जी।

यदि हरिगीतिका की ५वीं, १२वीं, १९वीं, तथा २६वीं मात्राएँ लघु रहें तो इसकी गति ठीक होगी।

(९) गीतिका—गीतिका के प्रत्येक चरण में १४, १२ के विश्राम से २६ मात्राएँ रहती हैं। इसके अन्त में लघु-गुरु (। ऽ) का विधान होता है। यदि अन्त में रगण (ऽ । ऽ) आ जाए तो छन्द अधिक कर्ण-मधुर हो जाता है। इसके प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं तथा चौबीसवीं मात्राओं का लघु होना आवश्यक है।

वीर-मंडल की महाविद्या महामाया नहीं।
बालि की बनिता न समझो जीव का जाया नहीं।
सत्य-सागर सूरमा हरिचद का रानी नहीं।
आपने यह पाँचवीं तारा अभी जानी नहीं॥
—काव्यांग कौमुदी, तृतीय कला पृ० २४८ से।

(१०) ताटंक—इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ और १४ की यति से ३० मात्राएँ होती हैं और अन्त में भगण (ऽ । ।) का रहना आवश्यक होता है।

निरखि शत्रु की स्वर्णपुरी वह, मुझे दिशा-सी भूली थी।
नील जलधि में लंका थी या, नभ में सन्ध्या फूली थी॥
भौतिक विभूतियों की निधि-सी, छवि की छत्रच्छाया-सी।
यंत्रों मंत्रों तंत्रों की थी, वह त्रिकूटिनी माया-सी॥

(११) त्रिभंगी—त्रिभंगी छन्द में १०, ८, ८ और ६ के विश्राम पर ३२ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु होता है।

जेहि पद सुर-सरिता, परम पुनीता, प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद-पंकज, जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ कृपालु हरी॥
एहि भाँति सिधारी, गौतम नारी, बार-बार हरि-चरन परी।
जो अति मन-भावा, सो बर पावा, गइ पतिलोक अनंद-भरी॥

(१२) चवपैया—इसके प्रत्येक चरण में ८, १० तथा १२ की यति से ३० मात्राओं का विधान किया जाता है। अन्त में एक सगण तथा एक गुरु (। । ऽ ऽ) के होने से छन्द सुन्दर बन जाता है।

भये प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी।
हर्षित महतारी, मुनिमनहारी, अद्भुत रूप निहारी॥
लोचन अभिरामा, तनु घनस्यामा, निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला, नैन बिसाला, सोभासिन्धु खरारी॥

(१३) प्लवंगम--इस छन्द में २१ मात्राएँ (प्रत्येक चरण में) होती हैं और ८ तथा १३ पर यति होती है। इसके अन्त में एक जगण और गुरु (।ऽ।ऽ) अथवा रगण (ऽ।ऽ) का विधान होना चाहिए।

हो कलरविता लसिता दीपक-अवलि से,
निज विकास से बहुतों को विकसित बना।
विपुल कुसुम-कुल की कलिकाओं को खिला,
हुई निशामुख द्वारा रजनी व्यंजना॥
—वैदेही-वनवास।

(१४) सार--इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं और १६ तथा १२ पर विश्राम होता है। अन्त में दो गुरु होते हैं।

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन-सी वामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय-सी अभिरामा॥
सिन्धु-गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता-सी।
आकर चकित हुई तट पर, प्रियतम-दर्शन की प्यासी॥
— पथिक-रामनरेश त्रिपाठी।

(१५) वीर--इसके प्रत्येक चरण में १६ तथा १५ की यति पर ३१ मात्राएँ रहती हैं और अन्त में गुरु-लघु होते हैं। इसे 'आल्हा' भी कहा जाता है।

सुमिरि भवानी जगदम्बा का, श्री सारद के चरन मनाय।
आदि सरस्वति तुमका ध्यावौं, माता कंठ विराजौ आय॥
जोति बखानौं जगदंबा कै, जिनकी कला बरनि ना जाय।
सरद चंद-सम आनन राजै, अति छबि अंग-अंग रहि छाय॥

(१६) झूलना--इसमें २६ मात्राएँ होती हैं और ७, ७, ७, ५ पर विश्राम होता है। इसके अन्त में गुरु-लघु का विधान किया जाता है :

तुम हौ अनंत अनादि सर्वग सर्वदा सर्वज्ञ।
अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ॥
भ्रमिबो करैं जन लोक चौदहु लोभ-मोह-समुद्र।
रचना रची तुम ताहि जानत हौं न वेद न रुद्र॥

अर्धसम

(१) बरवै—यह १९ मात्राओं का छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १२ तथा दूसरे और चौथे में ७ मात्राएँ रहती हैं। इसके सम चरणों का तुकान्त मिलता है।

सम सुबरन सुषमाकर, सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल, कनक कठोर॥

—तुलसीदास।

(२) दोहा—दोहा २४ मात्राओं का छन्द है। इसके प्रथम एवं तृतीय चरणों में १३-१३ तथा द्वितीय और चतुर्थ में ११-११ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों (द्वितीय और चतुर्थ) के अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) का होना आवश्यक है। विषम चरणों (प्रथम एवं तृतीय) के प्रारम्भ में जगण (।ऽऽ) का न होना आवश्यक है।

पीत बसन कटितट कसन, मंद हँसन सुख कंद।
मधुर बयन नीरज नयन, नमो नमो नँद-नंद॥

—बिहारीलाल भट्ट।

(३) सोरठा—दोहा उलट देने पर सोरठा बन जाता है। इसके प्रथम एवं तृतीय चरण में ११-११ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं।

जाँचै बारह मास, पियै पपीहा स्वाति-जल।
जान्यो 'तुलसीदास', जोगवत नेही मेह-मन॥

विषम छन्द

(१) कुंडलिया—यह १४४ मात्राओं का छन्द है जिसमें २४-२४ मात्राओं के छह चरण होते हैं। दोहा और रोला छन्द के मिश्रण से कुंडलिया छन्द बनता है। इसके प्रारम्भ के दो चरणों में दोहा और बाद की चार पंक्तियों में रोला छन्द होता है। कुंडलिया के पाँचवें चरण के पूर्वार्द्ध में कवि का नाम आता है।

जानै यह नर-तन दियौ कियौ सबन सिर-मौर।
अन्न, प्रान, मन ग्यान सुख पंचकोष तिहि ठौर।
पंचकोष तिहि ठौर और किय बुद्धि प्रकासा;
तिहि प्रभु कों उरि प्रात भजै नित कर विस्वासा।
कवि 'बिहार' हरि-कृपा हृदय अपने मैं आनें;
इहि विधि होवै बृत्ति सफल जीवन तब जानें॥

(२) छप्पय—यह ६ चरणों का मात्रिक विषम छन्द है। इसमें २४-२४ मात्राओं के चार चरण रोला के होते हैं और शेष चरणों में २८-२८ मात्राएँ होती हैं। अन्तिम दो चरण उल्लाला छन्द के होते हैं।

नीलांबर परिधान, हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य-चन्द युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है॥

नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं।
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं॥
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण-मूर्त्ति सर्वेश की॥

—गुप्त जी।

वर्ण-वृत्त

(१) इन्द्रवज्रा—इन्द्रवज्रा छन्द के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण तथा दो गुरु का विधान होता है—त त ज ग ग (ऽऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽऽ)।

मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा।
है जो तुम्हें कष्ट वही करूँगा॥
संतान जो सत्यवती जनेगी।
राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥

—गुप्त जी।

(२) उपेन्द्रवज्रा—यह ११ वर्णों का वृत्त है। इसके प्रत्यक चरण में जगण, तगण, जगण और दो गुरु का विधान होता है। ज त ज ग ग (।ऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽऽ) इन्द्रवज्रा का पहला अक्षर लघु कर देने से उपेन्द्रवज्रा छन्द बन जाता है—उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा।—छन्दोमंजरी, २-२। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततौ गौ।—वृत्तरत्नाकर, ३।२९।

मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था बस का बनी का।
अपूर्व आलाप वही हमारा,
यथा विपंची दिर दार दारा॥

—साकेत, नवम सर्ग।

(३) शालिनी—यह ११ वर्णों का छन्द है। इसमें मगण, तगण-तगण तथा दो गुरु होते हैं। (ऽऽऽऽऽ।ऽऽ।ऽऽ)—मात्तौगौ चेत् शालिनी वेदलोकैः, छन्दोमंजरी, २।५।

क्या-क्या होगा, साथ, मैं क्या बताऊँ ?
है ही क्या, हा ! आज जो मैं जताऊँ ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ पाँचवीं तू प्रवीणा।

—साकेत, नवम सर्ग।

(४) भुजंगी—भुजंगी में तीन यगण तथा लघु-गुरु का विधान होता है—य तीनों लगा के भुजंगी रचौ। इसमें कुल ११ वर्ण होते हैं (।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ)।

सदा देश की कीर्त्ति गाते रहें।
बढ़ा जाति को मोद पाते रहें।
पढ़ें पूर्वजों की कथा ध्यान दें,
चढ़ें शीघ्र ऊँचे उन्हें मान दें॥

(५) इन्दिरा—इसमें नगण, रगण, रगण तथा लघु-गुरु का योग रहता है—(।।।ऽ।ऽऽ।ऽ।ऽ)। न र र लैगु राविन्दिरामता—छन्दोमंजरी, ११।२।

प्रियतमे, तपो-भ्रष्ट मैं ? भला !
मत छुओ मुझे, लौट मैं चला।
तुम सुखी रहो, हे विरागिनी,
बस विदा मुझे पुण्य-भागिनी॥

—साकेत, नवम सर्ग।

(६) रथोद्धता इसके प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं और रगण, नगण, रगण एवं दो गुरु का विधान होता है। र न र ग ग (ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽऽऽ)।

चित्रकूट तब राम जू तज्यो।
जाय यज्ञथल अत्रि को भज्यो॥
राम-लक्ष्मण समेत देखियो।
आपनो सफल जन्म लेखियो॥

—केशवदास।

(७) वंशस्थ—यह १२ वर्णों का वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण होते हैं—ज त ज र (।ऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽ)।

वदन्ति वंशस्थबिलं जतौजरौ।—छन्दोमंजरी, २।२।

विमुग्धकारी मधुमास मंजु था,
वसुन्धरा थी कमनीयतामयी।
विचित्रता साथ विराजिता रही,
वसन्त वासन्तिकता वनान्त में॥

—प्रियप्रवास।

(८) द्रुतविलम्बित—इसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं तथा नगण भगण, भगण और रगण का योग होता है। न भ भ र (।।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ)।

द्रुतविलम्बितमाह नभौभरौ—छन्दोमंजरी, २।१०।

अधिक और हुई नभ-लालिमा,
दशदिशा अनुरंजित-सी हुई।
सकल पादप पुंज हरीतिमा,
अरुणिमा विनमज्जित-सी हुई॥ —प्रियप्रवास।

(९) वसन्ततिलका—वसन्ततिलका १४ वर्णों का वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु होते हैं।

त भ ज ज ग ग (ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ)।

उक्तावसन्ततिलकातभजाःजगौमः। —वृत्तरत्नाकर, ३।७९।

ज्योतिर्मयी विकसिता हसिता लता को,
लालित्य साथ लिपटी तरु से दिखा के।
थे भाखते पतिरता अवलम्बिता का,
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता॥ —प्रियप्रवास।

(१०) मालिनी—मालिनी १५ वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण, यगण का विधान होता है। इसमें ८ और ७ पर यति होती है।

न न म य य (।।। ।।। ऽऽऽ ।ऽऽ।ऽऽ)।

कुल कुवलय के से, नैना वाले रसीले,
वर रचित फवीले, वस्त्र पीताभशोभी।
गुरु-गुण गरबीले, मंजुभाषी सजीले,
वह परम रसीले, लाड़िले नन्द जी के॥ — प्रियप्रवास।

(११) शिखरिणी—शिखरिणी १७ वर्णों का वृत्त है। इसमें ६ और ११ पर यति होती है और प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण एवं लघु-गुरु होते हैं।

य म न स भ ल ग (।ऽऽऽऽऽ।।। ।।ऽऽ।। ।ऽ)।

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागःशिखरिणी।

—छन्दोमंजरी, ३।१।

मनोभावों के हैं, शतदल शोभित सदा,
कला हंस श्रेणी, सरस रसक्रीड़ा निरत है।
जहाँ हृत्तंत्री की, स्वर लहरिका नित्य उठती,
पधारो हे वाणी, बनकर वहाँ मानसप्रिया॥

—आनन्दकुमार।

(१२) मन्दाक्रान्ता—इसमें १७ अक्षर होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण; नगण, तगण, तगण तथा दो गुरु का विधान होता है। इसमें ४,६ एवं ७ पर यति होती है।

म भ न त त ग ग (S S S S । । । । । S S । S S । S S)।

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौग युग्मम्। —छन्दोमंजरी, २।४।

कालिन्दी-सी, कलित सरिता, दर्शनाया निकुंजे,
प्यारा वृन्दा, विपिन विटपी, चारु न्यारी लताएँ।
शोभावाले, विहग जिसने, हैं दिये हा उसीने,
कैसे माधो, रहित ब्रज की, मेदिनी को बनाया॥ —प्रियप्रवास।

(१३) शार्दूलविक्रीड़ित—इसके प्रत्येक चरण में १९ अक्षर होते हैं और १२ तथा ७ पर यति (विश्राम) होती है। इसमें गणों का विधान इस प्रकार है—मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा एक गुरु।

म स ज स त त ग (S S S । । S । S । । । S S S । S S । S)।

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

—छन्दोमंजरी, २।३।

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका, राकेंदु विम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीडाकलापुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि-सी, लावण्यलीलामयी,
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी, माधुर्य सन्मूर्त्ति थीं॥

—प्रियप्रवास।

(१४) भुजगप्रयात—यह १२ वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं (। S S । S S । S S । S S)।

भुजंगप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः। —छन्दोमंजरी, २।५५।

बनाती रसोई सभी को खिलाती।
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती॥
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना।
खिलाऊँ किसे मैं अलोना सलोना॥

—साकेत, नवम सर्ग।

(१·) स्रग्धरा—यह २१ वर्णों का छन्द है। इसमें ७, ७, ७ पर यति होती है। इसके प्रत्येक चरण में मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण होते हैं। म र भ न य य य (S S S S । S S S S । । । । S S । S S । S S)।

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धराकीर्त्तितेयम् ।

—छन्दोमंजरी, २।१ ।

हे दुर्गे विश्वधात्री, जननि भगवती, हे शिवे हे भवानी ।
आर्ये कल्याणि वाणी, भव-भयहरणी, चंडि त्रैलोक्य-रानी ॥
पाके भी हाय ! माता, हम सब तुम-सी, ईश्वरी शक्तिशाली ।
होंगे संसार में क्या, न अब फिर सुखी, तोड़ दुखार्ति जाली ॥

(१६) तोटक—तोटक १२ वर्णों का छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में चार सगण होते हैं—(।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ।।ऽ)।

वदतोटकमब्धिसकारयुतम् । —छन्दोमंजरी, १।६ ।

बब तूल धुने कण से घन ये । नगराज सजे विज आँचल ये ॥
नभ-दुग्धमयी-सरिता-छवि ये । लख नन्दित आज हुआ कवि ये ॥

—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ।

(१७) स्रग्विणी—यह १२ वर्णों का छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में चार रगण रहते हैं (ऽ। ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ)।

रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता । —वृत्तरत्नाकर, ३।५६ ।

भूचरों खेचरों को मिटाती हुई, रौरवी अग्नि-वीणा बजाती हुई ।
एक भारी चिता-सी धरा-धाम में, वह्नि जाज्वल्यमाना जलाती हुई ॥

—अनूप ।

(१८) मौक्तिकदाम—इस छन्द के प्रत्येक चरण में चार जगण का विधान होता है (।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।)।

छल्यो बलि को नहिं भूतल नाप । छले बलि के कर सों प्रभु आप ॥
सदा जय पूरन विश्व-महेन्द्र । सदा जय भक्त-भविष्य-सुरेन्द्र ॥

सवैया

सवैया छन्द अनेक प्रकार का है । उसके भेदों का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(१) मदिरा सवैया—मदिरा सवैया के प्रत्येक चरण में सात भगण (ऽ।।) और एक गुरु होता है । इसके प्रत्येक चरण में २२ वर्ण होते हैं ।

आश्रय ये सब भाँति भलौ सुखदायक है दुख गंजन है ।
राग पराग सुभागन पाय 'बिहार' करै उर मंजन है ॥
या मन मौंजि मलिंदह कौं अब ठौर यही भय-भंजन है ।
श्रीपति श्रीमनमोहन के पद कंजन मैं मनरंजन है ॥

(२) मत्तगयन्द सवैया—इसमें २३ वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में सात भगण (ऽ।।) एवं अन्त में दो गुरु का विधान होता है। इसे मालती और इंदव भी कहा जाता है।

धोवत पाँव जो सूक्षम हो, अरु स्वल्प मुखारी करै मन भावै।
सोवत साँझ औ प्रात समै, परियक परै नहिं बस्त्र बिछावै॥
मंदिर पाक मलीन रखै, नित नूतन क्रोध कलौ बगरावै।
जो नर ऐसी रहै रहनी, तिहि के फिर लछमी फिर पास न आवै॥

(३) मुक्ताहरा—इसके प्रत्येक चरण में आठ जगण (।ऽ।) होते हैं। यह २४ वर्णों का छन्द है।

न राग न रंग न संग न ढंग, न न्याय न नीति न चौंप न चाव।
न प्रेम न नेम न छेम न धर्म, न कर्म न शर्म न ठौर न ठाँव॥
'बिहार' अचार बिचार न सार, न रीति न प्रीति न गीत न गाव।
न रीझ न बूझ न भक्ति न भाव, तहाँ कुछ भूलिहु आव न जाव॥

(४) किरीट सवैया—इसमें आठ भगण (ऽ।।) होते हैं।

बालि बली न बच्यौ पर-खोरहि क्यों बचिहौ तुम आपनी खोरहि।
जा लगि छीर समुद्र मथ्यो कहि कैसे न बाँधिहै बारिधि थोरहि॥
श्रीरघुनाथ गनौ असमर्थ न देखि बिना रथ हाथिन घोरहि।
तोर्‍यो सरासन संकर को जेहि साऽब कहा तुव लंक न तोरहि॥
—रामचन्द्रिका।

(५) दुर्मिल सवैया—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।ऽ) होते हैं।

तन की दुतिस्याम-सरोरुह-लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दँतियाँ दुति-दामिनी ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन-मन्दिर में बिहरैं॥

सवैया का अन्य भेद 'सुन्दरी' है जिसमें आठ सगण (।।ऽ) होते हैं और अन्त में एक गुरु होता है।

दंडक

२६ अक्षर से अधिक संख्या वाले छन्दों को दंडक कहते हैं।

(१) मनहरण कवित्त—मनहरण कवित्त दंडक छन्द है। इसमें १६ और १५ अक्षरों पर यति होती है और अन्त में एक गुरु वर्ण होता है। इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं।

राम-संप्रदा को चाह स्याम संप्रदा कौ होय,
चाहै भजै शक्ति चाह सेवह सिवालौ है।
कहत 'बिहारी' जैन आरिया कबीरा होय,
गावै ग्रंथ साब चाह देखहि दिवालौ है॥
लाम इसलाम पारसीनी चाह चीनी होय,
चाहै मत ईसा मत सबकौ निरालौ है।
सुनो मतवाला होय कोई मतवालौ वही,
होय मतवालौ जौन होय मतवालौ है॥

(२) रूप-घनाक्षरी—इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं और १६,१६ वर्णों पर यति होती है। इसके अन्त में एक लघु होता है।

प्रभु-रुख पाइ कै बोलाइ बाल-घरनिहि,
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि।
छोटो-सो कठौता भरि आनि पानी गंगा जू को,
धोइ पायँ पीयत पुनीत बारि फेरि-फेरि॥
'तुलसी' सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन जय-जय कहैं टेरि-टेरि।
बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
हँसे राघौ जानकी-लखन तन हेरि-हेरि॥

घनाक्षरी के अन्य भेद हैं—कृपान-घनाक्षरी, देव-घनाक्षरी आदि। कृपान-घनाक्षरी के प्रत्येक चरण में आठ-आठ वर्णों की यति से ३२ अक्षर होते हैं और अन्त में गुरु-लघु का योग होता है। देव-घनाक्षरी के प्रत्येक चरण में ८,८,८,९ के विश्राम पर ३३ वर्ण होते हैं और अन्त में तीन अक्षर लघु होते हैं।

